जवाहर-ज्योति

जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के
कतिपय सार्वजनिक व्याख्यानों का संग्रह

2720
श्री जैन जवाहर पुस्तकालय
जैन भीनासर
विषय जवाहर साहित्य
पुस्तक सं० 46
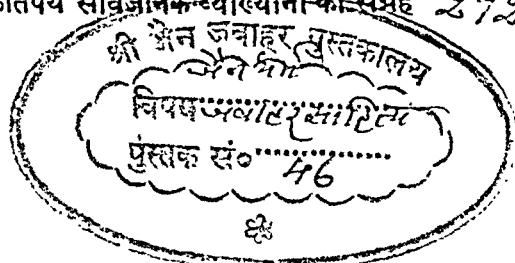
अनुवादक
श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक
श्री श्वेताम्बर साधुमार्गी जैन श्रीसंघ,
बगड़ी (मारवाड़)

प्रथमावृत्ति
१०००

अर्ध मूल्य
।≈)

वि. सं. १९९७
ई. सं. १९४१

प्राप्ति-स्थान—
हैड मास्टर,
श्री महावीर जैन मिडिल स्कूल,
बगड़ी-सज्जनपुर (मारवाड़)

श्री० पन्नालाल गुप्त 'अनन्त'
द्वारा
आदर्श प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर में मुद्रित।
इस प्रेस में सब तरह की छपाई शुद्ध सुन्दर व सस्ती होती है।

ॐ

यत्-किञ्चित्

जीवन-निर्माण में संतों की संगति और उनके उपदेश-श्रवण का महत्वपूर्ण स्थान है। जो महापुरुष संसार की अनेक आड़ी-टेढ़ी और चक्करदार पगडंडियों को पार करके आध्यात्मिक प्रगति के सुगम राजपथ पर पदार्पण कर चुके हैं, उनके उद्गार, उनके अनुभव हमारा कितना हित-साधन कर सकते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। उनके अनुभव-भरे उद्गार हमारे लिए दिव्य-ज्योति का काम देते हैं।

पूज्य श्री १००८ श्री जवाहरलालजी महाराज उन संतों में हैं जिन्होंने अपना बहुमूल्य जीवन आध्यात्मिक साधना के लिये अर्पण कर दिया है। उनमें जहाँ गहन से गहन तत्त्व की थाह लेने की अद्भुत बौद्धिक शक्ति है, वहाँ उस तत्त्व को सरल से सरल तरीके पर प्रगट करने का वाचनिक सामर्थ्य भी है। साधारण-सा प्रतीत होनेवाला कोई विषय या कोई कथानक जब वे लेते हैं, तब उसे भी इतना मार्मिक, रोमाञ्चकारी और गहन नैतिक एवं धार्मिक रहस्यों का खजाना बना देते हैं कि श्रोता चकित और आत्म-विस्मृत होजाता है।

आचार्य महाराज अपने प्रवचनों में आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और सामाजिक, सभी जीवनोपयोगी तत्त्वों का सम्मिश्रण

करते हैं और उनके समन्वय में ही जीवन का सर्वांगीण विकास समझते हैं। वास्तव में जैसे शरीर के प्रत्येक अंग की निरोगता ही 'शरीर की निरोगता' है, उसी प्रकार आध्यात्मिकता, नैतिकता आदि का विकास ही जीवन का सच्चा विकास है।

आचार्यश्री के प्रवचन सार्व हैं सर्वजनोपयोगी हैं। वे न किसी वर्ग-विशेष के लिए हैं और न किसी सम्प्रदाय-विशेष के लिए। प्रत्येक जिज्ञासु उनसे समान रूप से लाभ उठा सकता है।

आचार्यश्री के उपदेशों आदि के विषय में विस्तारपूर्वक चर्चा करने की इच्छा है, पर भगवान् जानें वह कब पूरी होगी।

आचार्यश्री के प्रवचन का कुछ भाग हिन्दी में श्री हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम से, और गुजराती भाषा में ज्ञानोदय सोसाइटी राजकोट से प्रकाशित हो चुका है। कुछ भाग अभी तक शायद अप्रकाशित पड़ा हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक गुजराती की 'श्री जवाहर-ज्योति' पुस्तक का अनुवाद है; पर इसमें कुछ व्याख्यान नये भी जोड़ दिये गये हैं। आशा है यह प्रयास हिन्दी भाषा-भाषी जनता को लाभप्रद सिद्ध होगा।

आचार्य महाराज का शरीर अब अत्यन्त वृद्ध हो गया है। उनमें दूर-दूर विहार करने की शक्ति नहीं रही है। अतएव उनके उपदेशों के इस प्रकार के संग्रह ही उनके उपदेशों की आंशिक-पूर्ति करेंगे। इस दृष्टि से यह भी अत्यन्त वांछनीय है कि पूज्यश्री के अप्रकाशित प्रवचनों का प्रकाशन किया जाय और जो

गुजराती भाषा में ही प्रकाशित हुए हैं, उनका हिन्दी में अनुवाद किया जाय।

गत वर्ष पूज्यश्री का चातुर्मास वगड़ी-सज्जनपुर (मारवाड़) में हुआ था। इस चातुर्मास के उपलक्ष्य में वगड़ी के जिन श्रीमानों की आर्थिक सहायता से इस पुस्तक का प्रकाशन संभव हो सका, उनकी नामावलि अलग दी जारही है। आशा है उन सब सज्जनों का आभार मानने में पाठक भी हमारा साथ देंगे।

श्री जैन गुरुकुल,
ब्यावर
२४। ३। ४१.

—शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

विषय-सूची

		पृष्ठ
१. ब्रह्मचर्य	... ...	१ –३०
२. संतति-नियमन	... ...	३१—५७
३. मानव-धर्म	... ...	५८—९१
४. जन-सेवा	... ...	९२–१८५
(१)	... ...	९२–११३
(२)	... ...	११४–१३४
(३)	... ...	१३५–१५६
(४)	... ...	१५७–१८५
५. खादी और जैन दृष्टि	... ...	१८६–२०२
६. महात्माजी का मिलन	... ...	२०३–२०९
७. प्रवचन [सरदार पटेल के आगमन पर]		२१०–२१५
८. सरदार पटेल का भाषण	... ...	२१६–२२०
९. गांधी-जयन्ती	... ...	२२१–२४१
१०. जन्माष्टमी	... ...	२४२–२८६
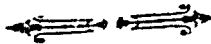
❀ ॐ अर्हम् ❀

जवाहर-ज्योति
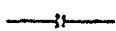
प्रार्थना

कुंथु जिनराज ! तू ऐसो, नहीं कोइ देव तो जैसो ।
त्रिलोकीनाथ तू कहिये, हमारी बांह दृढ़ गहिये ॥ कुंथु० ॥

श्रीकुंथुनाथ भगवान् की यह प्रार्थना की गई है। परमात्मा की प्रार्थना किस प्रकार करनी चाहिए; इस संबंध में ज्ञानियों और भक्तों ने अपने हृदयगत भाव प्रकट करके जनता के समक्ष अनेक मार्ग प्रस्तुत किये हैं। फिर भी सर्वसाधारण जनता सरलता से प्रार्थना कर सके, इसके लिए कोई साधारण नियम होना

चाहिए। महान् ज्ञानी और महान् भक्तजन चाहे जिस पद्धति से प्रार्थना करें, उनकी पद्धति उनके लिए सुलभ और सरल हो सकती है, किन्तु जन-साधारण के लिए उनका मार्ग सुगम नहीं हो सकता। अतएव हमें यह देखना चाहिए कि साधारण जनता के लिए प्रभु में तन्मय होने का सरल मार्ग क्या है ? यद्यपि आज-कल कुछ लोग परमात्मा के नाम से ही चिढ़ते हैं और ईश्वर को एक बड़ी उपाधि समझते हैं, फिर भी बहुत से व्यक्तियों में ईश्वर-भक्ति की भावना विद्यमान है। जो लोग ईश्वर को व्याधि मानते हैं वे अज्ञान से जकड़े हुए हैं। उनके अंतरंग में जो स्वाभाविक तरंगें उठती हैं वे उन्हें भी ईश्वर की ओर धकेल रही हैं, ऐसा ज्ञानियों का विश्वास है। इसी विश्वास की प्रेरणा से उन्होंने शास्त्र प्रकट किये हैं। आज का विषय ब्रह्मचर्य है, किन्तु प्रार्थना मेरी आत्मा का विषय है और इस विषय पर दो-चार शब्द बोले बिना मेरे अन्तःकरण को शान्ति नहीं मिलती। प्रार्थना के विषय में बोलने का यही कारण है और मेरे अन्तःकरण को यदि शान्ति-लाभ हुआ तो इससे आपको भी लाभ होगा।

अभी जो प्रार्थना मैंने की है वह केवल मेरी नहीं, सभी की है। आप यह कह सकते हैं कि हम प्रार्थना करना चाहते हैं या नहीं, यह बात जाने बिना ही आप ऐसा कैसे कह सकते हैं ? पर मेरा विश्वास है कि ऊपर से कोई भले ही यह कहे कि मैं प्रार्थना नहीं करना चाहता, पर प्रार्थना के बिना जीवन निभ ही नहीं सकता। कदाचित् कोई कहे कि मुझे सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, मैं दीपक आदि के प्रकाश से अपना काम चला लूंगा; तो उसका यह कथन क्या सही हो सकता है ? नहीं;

क्योंकि सूर्य की सहायता के बिना जीवन नहीं टिक सकता, जीवन की गति ही कुंठित हो जाती है। अतएव सूर्य के प्रकाश की अनावश्यकता बतलाने वाला भूल करता है। सूर्य की जीवन में अनिवार्य उपयोगिता है। सूर्य अपनी निन्दा करने वाले को और अपनी प्रशंसा करने वाले को समान प्रकाश देता है, वह किसी से भेदभाव नहीं रखता। सूर्य के विषय में जब यह कहा जा सकता है, तब परमात्मा के विषय में ज्ञानी जन इस प्रकार कहते हैं:—

सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके ।

—भक्तामर स्तोत्र।

अर्थात्—हे प्रभो ! तुम्हारी महिमा अनन्त सूर्यों से भी अधिक है। इस प्रकार जब परमात्मा अनन्त सूर्यों से भी अधिक महिमाशाली है तो उसकी प्रार्थना के बिना क्या जीवन निभ सकता है ? कदाचित् तुम कहोगे—सूर्य प्रत्यक्ष से जीवनोपयोगी जान पड़ता है, मगर ईश्वर तो कहीं दीखता भी नहीं, ऐसी हालत में ईश्वर का अस्तित्व और जीवन के लिए उसकी प्रार्थना की उपयोगिता कैसे मानी जा सकती है ?

इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानी जन बतलाते हैं कि यदि तुम्हारी चर्म-चक्षु ईश्वर का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं हैं तो इससे क्या हुआ ? चर्मचक्षु के अतिरिक्त हृदय-चक्षु भी है और उसके द्वारा परोक्ष वस्तु जानी जा सकती है और उस वस्तु पर विश्वास भी किया जा सकता है। परमात्मा की प्रार्थना के विषय में ज्ञानी जन यही कहते हैं कि तुम चर्म-चक्षुओं पर ही निर्भर न बनो, हमारी बात मानो। बचपन में जब तुमने बहुत-सी वस्तुएँ नहीं देखी होतीं, तब माता के कथन पर तुम भरोसा करते हो। क्या उससे तुम्हें कभी

हानि हुई है ? बचपन में तुम साँप को भी साँप नहीं समझते थे; मगर माता पर विश्वास रखकर ही तुम साँप को साँप समझ सके हो और साँप के दंश से अपनी रक्षा कर सके हो। फिर उन ज्ञानियों पर, जिनके हृदय में माता के समान करुणा और वात्सल्य का अविरल स्रोत प्रवाहित होता रहता है, श्रद्धा रखने से तुम्हें हानि कैसे हो सकती है ? उन पर विश्वास रखने से तुम्हें हानि कदापि न होगी; प्रत्युत लाभ ही होगा। अतएव जब ज्ञानी जन कहते हैं कि परमात्मा है और उसकी प्रार्थना—स्तुति करने से शान्ति-लाभ होता है तो उनके इस कथन पर विश्वास रक्खो। स्मरण रखना, इस प्रकार के विश्वास से तुम्हारा अवश्य कल्याण होगा।

परमात्मा के प्रति विश्वास स्थिर क्यों नहीं रहता ? यह प्रश्न अनेकों के मस्तक में उत्पन्न होता है। इसका उत्तर ज्ञानी यह देते हैं कि आन्तरिक निर्बलता ही परमात्मा के प्रति विश्वास को स्थायी नहीं रहने देती। परमात्मा के प्रति विश्वास होने के जो कारण हैं, उनमें से एक कारण ब्रह्मचर्य है। जीवन में यदि ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा हुई हो तो निस्संदेह ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा का भाव स्थायी रह सकता है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य किसी साधारण व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं किन्तु महापुरुषों द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों में से एक परम उच्च सिद्धान्त है। ब्रह्मचर्य का विषय इतना मार्मिक, महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक है कि अनेक भाषणों में भी उसका सर्वांगपूर्ण विवेचन हो सकना संभव नहीं है। ऐसी अवस्था में एक दिन के व्याख्यान

में उसका परिपूर्ण वर्णन होना कैसे संभव है ? फिर भी आज ब्रह्मचर्य के संबंध में कहना ही है तो पूर्ण को भी अपूर्ण रूप में ही कहना होगा। आप सावधान होकर सुनिये।

संसार में ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जिसने ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन न किया हो। अन्य धर्म ब्रह्मचर्य के विषय में क्या कहते हैं, यह आज न बतलाते हुए सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि जैनधर्म ब्रह्मचर्य के विषय में क्या कहता है ? ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हुए जैन शास्त्र कहता है:—

'जम्बू! एत्तो य बंभचेरं तव-नियम-नाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-विणयमूलं, यमानियम गुणप्पाहाणजुत्तं, हिमवंत महंतं, पसत्थगंभीराथिमियमज्झे।'

—प्रश्न व्याकरण, चतुर्थ संवर।

भगवान् सुधर्मा स्वामी अपने ज्येष्ठ शिष्य से कहते हैं:—हे जम्बू ! अब मैं तुम्हें ब्रह्मचर्य का विषय कहता हूँ।

ब्रह्मचर्य का अर्थ क्या है ? यह हमें पहले ही समझ लेना चाहिए। 'ब्रह्मचर्य' पद में ब्रह्म और चर्य; यह दो शब्द हैं। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है आत्मा अथवा सत्य, तप, क्षमा आदि गुण। ब्रह्म शब्द में समस्त सद्गुणों का समावेश हो जाता है। और जिस क्रिया द्वारा इन सद्गुणों की प्राप्ति होती है उस क्रिया को 'चर्य' कहते हैं। इस प्रकार जिन गुणों द्वारा या जिस साधना से आत्मा का साक्षात्कार होता है उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं।

श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—ब्रह्मचर्य, तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, सम्यक्त्व और विनय का मूल है।

वृक्ष में तना, डाली, फल, फूल आदि होते हैं किन्तु इन सब का मुख्य आधार मूल ही होता है। मूल होता है तो उसके आधार पर वृक्ष फलता-फूलता है। मूल न हो तो वृक्ष नहीं टिक सकता। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य सब उत्तम क्रियाओं का मूल है। जहाँ ब्रह्मचर्य है वहीं उत्तम क्रियाएँ पार पड़ सकती हैं। शुभ क्रियाओं में तप सर्व प्रथम बताया गया है परन्तु ब्रह्मचर्य के बिना तप भी सार्थक नहीं हो सकता। कहा भी है:—

तपो वै ब्रह्मचर्यम्

—उपनिषद्

अर्थात् ब्रह्मचर्य ही तप है। जिस तप में ब्रह्मचर्य का स्थान नहीं होता वह तप वस्तुतः तप ही नहीं है। क्योंकि जहाँ मूल नहीं है वहाँ वृक्ष कैसे हो सकता है ? ब्रह्मचर्य तप का मूल है। इसी प्रकार वह नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य सम्यक्त्व और विनय आदि का भी मूल है। यमों और नियमों में भी ब्रह्मचर्य प्रधान है। यम अर्थात् महाव्रत और नियम अर्थात् त्याग-प्रत्याख्यान। पर्वतों में जैसे हिमालय पर्वत प्रधान है उसी प्रकार यम नियमों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।

संभव है आपने हिमालय पर्वत न देखा हो, पर हिमालय की बदौलत आपको जो सुख और शान्ति मिल रही है, उसका यदि विचार करोगे तो उसके उपकारों के आगे आपका मस्तक झुक जायगा। उसी प्रकार यदि ब्रह्मचर्य की शक्ति पर विचार किया जाय तो शायद ही ऐसा सभ्य पुरुष होगा जो अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को ब्रह्मचर्य की ही बदौलत स्वीकार न करे। वस्तुतः हमारी समस्त शक्तियाँ ब्रह्मचर्य की शक्तियाँ हैं। आप ब्रह्मचर्य की

जितनी महिमा गाते हैं उससे भी अधिक महिमा शास्त्रों में वर्णन की गई है। कदाचित् आप यह कहें कि शास्त्र में ब्रह्मचर्य का जैसा चमत्कार वर्णन किया गया है वैसा चमत्कार बताने वाला ब्रह्मचारी हमें दिखाई पड़े तो हम स्वीकार कर सकते हैं। पर ऐसा कोई चमत्कारी ब्रह्मचारी हमें तो कहीं नजर नहीं आता। इस दशा में उस महिमा को किस प्रकार अंगीकार किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वैसा चमत्कार दिखाई न देने पर भी वह कल्पना में आता है या नहीं? आप कह सकते हैं कि कल्पना में आई हुई बात किस काम की? किन्तु अनेक बातें ऐसी होती हैं जो प्रत्यक्ष देखकर ही काम में आती हैं और अनेक बातें ऐसी भी होती हैं जो कल्पना द्वारा ही काम में आती हैं। मैं अपनी यह बात बलात् स्वीकार कराना नहीं चाहता, मगर यदि आप मेरे कथन पर गहरा विचार करेंगे तो आप स्वयं ही इसकी सत्यता को स्वीकार करने लगेंगे। आज बुद्धिवाद का युग चल रहा है अतएव प्रत्येक बात बुद्धि की कसौटी पर कसी जाने पर ही मान्य होती है। पर मैं कहता हूँ कि आप मेरे कथन को हृदय की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार कीजिए। अगर कोई बात हृदय स्वीकार न करे तो उसे मत मानिये। ज्ञानी भी कहते हैं कि हमारी प्रत्येक बात को हृदय की कसौटी पर चढ़ाने के पश्चात् ही स्वीकार करो।

जो बात प्रत्यक्ष नहीं है पर कल्पना में आती है उसे मस्तक में किस प्रकार उतारा जा सकता है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका उत्तर यह है कि स्कूलों में पढ़ने वाले बालक रेखागणित में भूमध्य-रेखा की मोटाई मानकर एक रेखा बनाते हैं पर वास्तव में

भूमध्य-रेखा में मोटाई होती नहीं है। जब भूमध्य-रेखा में मोटाई नहीं है तो फिर उसकी कल्पना क्यों की जाती है? और वह किसलिए खेंची जाती है ? इसके लिए यह कहा जाता है कि भूमध्य-रेखा बनाये बिना—उसकी कल्पना न की जाय तो—आगे काम ही नहीं चलता।

पूर्ण ब्रह्मचारी को समस्त शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। कोई भी शक्ति ऐसी नहीं बचती जो उसे प्राप्त न हो। वह शक्ति भले ही प्रत्यक्ष दिखाई न दे पर यदि उसे शास्त्र की कल्पना का आधार प्राप्त है तो उसे मानने में कुछ भी हानि नहीं है। भले ही वह कथन कल्पना-युक्त हो पर आप उस कथन को दृष्टि में रखते हुए उस ओर प्रगति करो तो लाभ ही होगा। जैसे रेखागणित में भूमध्य-रेखा को मान लेने से काम चलता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य में भी पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को अंगीकार करना अनिवार्य है। फिर भले ही वह आदर्श कल्पना पर ही अवलंबित क्यों न हो!

यह तो हुई पूर्ण ब्रह्मचर्य की बात। आइए अब यह विचार करें कि अपूर्ण ब्रह्मचर्य कैसा होता है और अपूर्ण से पूर्ण की ओर किस प्रकार प्रयाण किया जा सकता है?

ज्ञानी जन कहते हैं—समस्त इन्द्रियों पर अंकुश रखना और विषय-भोग में इन्द्रियों को प्रवृत्त न होने देना, पूर्ण ब्रह्मचर्य है। और वीर्य की रक्षा करना अपूर्ण ब्रह्मचर्य है। आज वीर्यरक्षा तक ही ब्रह्मचर्य की सीमा स्वीकार की जाती है पर वास्तव में सब इन्द्रियों और मन को विषयों की ओर प्रवृत्त न होने देना ही पूर्ण ब्रह्मचर्य है। केवल वीर्यरक्षा अपूर्ण ब्रह्मचर्य है। अलबत्ता

अपूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा पूर्ण ब्रह्मचर्य तक पहुँचा जा सकता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के १६ वें अध्ययन की निर्युक्ति में ब्रह्मचर्य के चार भेद बताये गये हैं। नाम ब्रह्मचर्य, स्थापना ब्रह्मचर्य, द्रव्य ब्रह्मचर्य और भाव ब्रह्मचर्य।

जो लोग नाम से ब्रह्मचारी हैं पर ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, उनके ब्रह्मचारीपन को शास्त्र 'नाम ब्रह्मचर्य' कहते हैं। नाम के ब्रह्मचर्य से कुछ भी होता-जाता नहीं है। उसके साथ 'भाव ब्रह्मचर्य' का होना आवश्यक है। जो भाव से ब्रह्मचर्य का पालन न करते हुए भी नाम से ब्रह्मचारी कहलाते हैं वे दुनिया में सन्मान प्राप्त करने की कामना करते हैं। संसार में हीरा-मोती पहनने वालों का आदर होते देख कर कितने-क लोग सच्चे हीरा-मोतियों के अभाव में, आदर-सत्कार पाने के लिए नकली हीरा-मोती पहनते हैं। नकली हीरा-मोती पहनने का उनका उद्देश्य सिर्फ़ यही होता है कि नखरे करके किसी प्रकार लोगों को धोखा दिया जाय। इसी प्रकार संसार में ब्रह्मचारी का आदर-सन्मान होते देखकर उसी प्रकार का आदर-सन्मान पाने की लालसा से कुछ लोग नाम मात्र के ब्रह्मचारी बन बैठते हैं—वे ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते। ऐसे ब्रह्मचर्य को शास्त्रकार 'नाम ब्रह्मचर्य' कहते हैं। यह नाम ब्रह्मचर्य की बात हुई।

जो स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता किन्तु ब्रह्मचर्य या ब्रह्मचारी की मूर्ति बनाकर और उससे काम चल जायगा—ऐसा सोचकर, मूर्ति की स्थापना करके उसे मानता है वह स्थापना

ब्रह्मचारी है। उसके इस ब्रह्मचर्य को 'स्थापना ब्रह्मचर्य' कहते हैं। इस स्थापना ब्रह्मचर्य से भी कोई विशेष लाभ नहीं होता। लाभ तो तभी हो सकता है जब कि जिस गुण के कारण तुम उसकी मूर्ति बनाकर मानते हो उस गुण का स्वयं पालन करो।

तीसरा 'द्रव्य ब्रह्मचर्य' है। शारीरिक शक्ति आदि प्राप्त करने के लिए जो ब्रह्मचर्य पालन किया जाता है वह 'द्रव्य ब्रह्मचर्य' है। इस द्रव्य ब्रह्मचर्य से शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है। कहा भी है—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः

—योगसूत्र

द्रव्य ब्रह्मचर्य के पालन से वीर्य की रक्षा होती है। जिनमें वीर्य होता है उन्हें वीर्यवान् कहा जाता है।

देश में आज जो रोग, शोक, दरिद्रता आदि जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होते हैं उन सब का एक मात्र कारण वीर्यनाश है। आज बेकार वस्तु की तरह वीर्य का दुरुपयोग किया जा रहा है। लोग यह नहीं जानते कि वीर्य में कितनी अधिक शक्ति विद्यमान है। इसी कारण विषय-भोग में वीर्य का नाश किया जा रहा है और उसी में आनन्द माना जा रहा है। ऐसा करने से जब अधिक संतान उत्पन्न होती है तो घबराहट पैदा होती है, पर उनसे मैथुन त्यागते नहीं बनता। भारतीयों को इस प्रश्न पर गहरा विचार करना चाहिए। विदेशी लोग ब्रह्मचर्य की महत्ता भले ही न समझते हों या स्वीकार न करते हों, परन्तु भारत में तो ऐसे महान् ब्रह्मचारी हो गये हैं जिन्होंने ब्रह्मचर्य द्वारा महान् शक्ति-लाभ कर जगत् के समक्ष यह आदर्श उपस्थित कर दिया है

कि ब्रह्मचर्य के प्रशस्त पथ पर चलने में ही मानव-समाज का कल्याण है। ब्रह्मचर्य ही कल्याण का मार्ग है, यह समझते-बूझते हुए भी विषयभोग में सुख मानना और जब संतान उत्पन्न हो तो उसका निरोध करने के लिए कृत्रिम उपाय काम में लाना घोर अन्याय है! वीर्य को वृथा बर्बाद करने के समान दूसरा कोई अन्याय नहीं है।

हमारे अंदर जो शक्ति और साहस है वह वीर्य के ही प्रताप से है। अगर शरीर में वीर्य न हो तो मनुष्य हलन-चलन-गमनागमन आदि क्रियाएँ करने में भी समर्थ नहीं हो सकता।

इस प्रकार वीर्य की रक्षा करने में लाभ है और उसे नष्ट करने में हानि है। आज भारत की जो दीन-हीन अवस्था दिखाई देती है उसका प्रधान कारण वीर्यनाश ही है। जिस वीर्य के प्रताप से बाल सफ़ेद हुए बिना, दांत गिरे बिना, और आँख की शक्ति कम हुए बिना सौ वर्ष तक जीवित रहा जा सकता है, उस वीर्य को बुरे कामों में या जघन्य आमोद-प्रमोद में नष्ट करना क्या उचित कहा जा सकता है? जो लोग ब्रह्मचर्य की मर्यादा का भली भाँति पालन नहीं करते, उन्हीं लोगों की बदौलत भारतवर्ष की यह दुर्दशा हुई है! तुम्हें ब्रह्मचर्य से प्रेम हो सकता है पर केवल बातें बनाने से ही तो काम नहीं चलता। अतएव ब्रह्मचर्य को जीवन में स्थान दो। तभी यह कहा जा सकता है कि तुम्हारे हृदय में ब्रह्मचर्य के प्रति सच्चा प्रेम-भाव है। आज तो ब्रह्मचर्य के सामान्य नियमों का भी पालन नहीं होता और इसी कारण देश की दुर्दशा हो रही है।

चौथा 'भाव ब्रह्मचर्य' है। शास्त्रकारों ने भाव ब्रह्मचर्य के दस नियम बताये हैं। यह दस नियम पूर्ण ब्रह्मचारी और मुनियों के

लिये हैं। पर अपूर्ण ब्रह्मचारी के लिए भी दस नियम हैं जो विवाहित-अविवाहित—युवा-वृद्ध सबके लिए लाभप्रद हैं। तुम भी उन नियमों पर श्रद्धा रखकर उनका पालन करो। तुमने और अनेक दवाएँ ली होंगी पर वीर्य-रक्षा की दवा शायद नहीं ली होगी। यह नियम वीर्य-रक्षा की दवा है। तुम इस दवा का उपयोग कर देखो। देखना इससे कितना अधिक लाभ होता है!

अपूर्ण ब्रह्मचर्य के दस नियमों में पहला नियम भावना है। माता-पिता को ऐसी भावना लानी चाहिये कि मेरा पुत्र वीर्यवान् और जगत् का कल्याण करने वाला बने। इस प्रकार की भावना से बहुत लाभ होता है। आप लोगों को—जो यहाँ बैठे हैं—अलग-अलग तरह के स्वप्न आते होंगे। उसका क्या कारण है? कारण यही है कि सबकी भावना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि जैसी भावना होती है वैसा ही स्वप्न आता है। इसी प्रकार संतान के विषय में माता-पिता की भावना जैसी होती है, वैसी ही संतान बन जाती है। जिस प्रकार भावना से स्वप्न का निर्माण होता है, उसी प्रकार भावना से संतान के विचारों और कार्यों का निर्माण होता है। नीच विचार करने से खराब स्वप्न आता है और यही बात संतान के विषय में भी समझनी चाहिए। संतान के विषय में तुम जैसी भावना लाओगे आगे चलकर संतान वैसी ही बन जायगी। अतएव संतान के लिए और अपने लिए ब्रह्मचर्य की भावना निरन्तर लानी चाहिए।

ब्रह्मचर्य का दूसरा नियम भोजन-संबंधी विवेक है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि जिस खान-पान में आनन्द आता है वही भोजन है; पर यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। ब्रह्मचारी के

भोजन में और अब्रह्मचारी के भोजन में बड़ा अन्तर होता है, गीता में रजोगुणी, तमोगुणी और सतोगुणी का भोजन अलग-अलग बताया है। पर आज के लोग जिह्वा के वशवर्ती बनकर भोजन के गुलाम हो रहे हैं। यदि तुम अपनी जीभ पर भी अंकुश नहीं रख सकते तो आगे किस प्रकार बढ़ सकोगे ? विद्याभ्यास और शास्त्रश्रवण का फल यही है कि बुरे कामों में प्रवृत्ति न की जाय। पर आजकल खान-पान के संबंध में बड़ी भयंकर भूलें हो रही हैं और हालत ऐसी जान पड़ती है मानो विद्याभ्यास का फल खान-पान का मान भूल जाना ही हो।

आज चाय पीने का शौक इतना अधिक बढ़ गया है कि बस पूछिये नहीं। रोग के कारण किसी समय चाय पी लेना एक बात है; पर उसे एक पेय पदार्थ समझ कर स्त्रियाँ बालकों को चाय पिलावें, अथवा तेजी या स्फूर्ति पैदा करने के लिए चाय पीना-पिलाना, यह दूसरी बात है। चाय एक केफ़ी पदार्थ है। इसके सेवन से शरीर को जो हानि पहुँचती है उसका विचार करो। चाय ने आज कितना आधिपत्य जमा लिया है, इस संबंध में एक गुजराती कवि ने कहा है:—

चाय तारी चाहना ज्यां-त्यां विशेषे वधी पड़ी,
पोह फाटतां मुँह फाटतां तुज आटे तलसी जीभड़ी।
दातण कर्युं के ना कर्युं, पण रांड तू तो झट खड़ी,
तारो अमोने हिंदमां, जोटो बीजो मलतो नथी।
अटकी नहिं तो एटले, ज्यां शाक लेवा जन जतां,
बाजारमां सुख—शान्ति गृह मां, देखी तुजने बेसतां।

बकवाद पण तारो थतो ने जागवु तुज जाप थी,
नासी गयां ए दूध दहीं पापिणी ताए पाप थी।
मिजमान ज्यां आव्या घरे सत्कार ताएथी थतो,
उत्सव अने मीजीलीस विषे वैभव न तुज विन छाजतो।
नाटक विषे चेटक विषे, मुसाफरीयां तु खड़ी,
खूब गरम फड़फड़ती कलेजु वाली ने करी ठीकरी।
आचार-भ्रष्ट कर्यो वली ने जागवु तुज जाप थी,
करी मंद जठर अनूप तुं धातु के बाली नाखती।
चूड़ेल चूसे रक्त निशदिन, रोजना रोगी कर्यां,
आश्चर्य वैद्य हकीम डाक्टर सर्व ने तें वश कर्यां।
जे न्यायता दातार न्यायाधीश पण तुजने वर्यां,
फरियाद तारी क्या करूं सर्व ने तें वश कर्यां।
भूल्यो तने हुँ दोष देता तुँ बिचारी शुं करे,
ज्यां भलभला जन अंध थईने दीप लई कुवे पड़े।
सर्प छंछेड्यो सूतेलो तो करडतां वार शुं,
छेड़ी तुंने वलगी पड़ी त्यां दोष तुज लगार शुं?

चारों ओर घोर अंधकार व्याप रहा है और इस अंधाधुंधी में लोग इधर-उधर भटकते फिरते हैं। कोई मनुष्य नागिन को माला समझ कर गले में पहन ले या घर में सँभाल कर रख छोड़े तो निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि वह मनुष्य अंधकार में पड़ा हुआ है। कोई कह सकता है कि कौन इतना मूर्ख होगा जो जहरीली नागिन को घर में संभाल कर रक्खेगा! पर मैं कहता

हूँ कि ऐसे मूर्खों का अस्तित्व न स्वीकार करने वाले स्वयं ही ऐसा मूर्खतापूर्ण आचरण कर रहे हैं। क्या चाय नागिन की नाईं जहरीली नहीं है ? जो समय प्रभु की प्रार्थना करने के लिए है और जिस समय अपना दैनिक कार्यक्रम बनाना चाहिए, उस समय में चाय की उपासना करना कहां तक उचित है ? अगर किसी का यह ख़याल हो कि चाय लाभदायक है तो वह किसी डाक्टर से पूछ देखे कि वह लाभदायक है या हानिकारक है ! जो डाक्टर स्वयं चाय का गुलाम है वह भले ही चाय की तारीफ़ करदे, मगर और कोई चाय की प्रशंसा नहीं करता। जब गरमा-गरम चाय कोमल बालकों के पेट में पहुँचती होगी, तब वह बालक की धातुओं को कितनी अधिक हानि पहुँचाती होगी ! धातु क्षीण हो जाने से उन्हें कितने रोग उत्पन्न होते होंगे ! यदि चाय द्वारा पहुँची हुई हानि के इतिहास की खोज की जाय तो बहुत से रहस्यों का उद्‌घाटन हो सकता है। चुड़ेल का भय तो आजकल जनता में कम होगया है पर बीसवीं सदी की यह नई चुड़ेल रात-दिन मानव-रक्त को चूसकर उन्हें सत्वहीन बना रही है। पर इस चुड़ैल की फ़रियाद किससे की जाय ? न्यायाधीश और राजा स्वयं भी इसके गुलाम बन रहे हैं। ऐसा होने पर भी चाय की फ़रियाद सुनने वाले मौजूद हैं और वे हैं—चाय का त्याग करने का उपदेश देने वाले ! फिर भले ही उनकी बात कोई माने या न माने। इस प्रकार की अनेक असावधानियां आज भोजन के विषय में दृष्टिगोचर हो रही हैं।

तमाम ग्रन्थों और शास्त्रों में मदिरापान का निषेध किया गया है, फिर भी शराब के शौकीन शराब का 'लाल शर्बत' नाम

रखकर उसे गटक जाते हैं। चाय, शराब, तमाखू, बीड़ी आदि सब वस्तुएँ वीर्य-नाशक हैं। ऐसी वीर्यनाशक वस्तुएँ खा-पीकर आज की प्रजा वीर्यहीन बन गई है। जब आज की प्रजा वीर्य-हीन है तो भविष्य की प्रजा भी ऐसी ही वीर्यहीन होगी, यह निश्चित है। अतएव वीर्यरक्षा के लिए इस प्रकार की केफी चीजों का त्याग करना आवश्यक है। अपूर्ण ब्रह्मचर्य की रक्षा का यह दूसरा उपाय है। जिन चीजों के खान-पान से वीर्य का नाश होता हो ऐसी प्रत्येक चीज का त्याग करो, भक्ष्याभक्ष्य का विवेक रक्खो, और वीर्य की रक्षा करो तो शरीर, मन और बुद्धि का भी विकास हो सकता है। शरीर की चरबी बढ़ाना बल का प्रतीक नहीं है किन्तु मनोबल बढ़ाना और मनोव्यापार को नियंत्रण में रखना ही सच्चा बल है। आज भी ऐसे मनुष्यों की सत्ता है जिनका शरीर चरबी से पुष्ट नहीं जान पड़ता, फिर भी बड़े-बड़े पहलवान तक उनका मुकाबिला नहीं कर सकते। इसलिए ऐसा न समझो कि चरबी बढ़ाने से शरीर की शक्ति बढ़ जाती है, वरन् खाद्याखाद्य का विवेक रखते हुए मनोबल को सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न करो।

बालक और वृद्ध का खानपान भी आज एकसा हो रहा है। वृद्ध लोग बालकों को अपने साथ भोजन करने बिठलाते हैं। कोई-कोई तो यहां तक कहते हैं कि बालक को साथ बिठलाये बिना भोजन रुचता ही कैसे है? पर वे वृद्ध यह सोचने का कष्ट नहीं करते कि जिस भोजन में मिर्चमसाले का उपयोग किया गया है, जो भोजन गरिष्ट और अत्यधिक तामसिक है, वह बालकों के योग्य कैसे हो सकता है? ऐसे भोजन से तो बालकों की धातुओं का क्षय होता है।

इसी तरह स्त्रियों को भी खान-पान में विवेक रखने की आवश्यकता है। सधवा और विधवा तथा कुमारी और विवाहिता स्त्रियों को भी भोजन में विवेक रखना चाहिए। खान-पान का विवेक न होने से तथा भावना शुद्ध न होने से आज की कुमारिकाएँ छोटी उम्र में ऋतुमती बन जाती हैं और फिर उनकी संतान निर्बल उत्पन्न होती हैं। अतएव कुमारियों में भी ब्रह्मचर्य की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। 'तुझे कैसी बहू चाहिए', 'तेरे लिए कैसा दूल्हा ढूंढ़ें' इस प्रकार की बातें आजकल के माता-पिता अपने पुत्र-पुत्रियों से करते हैं और यह समझते हैं कि हम उनसे प्रेम करते हैं। पर वास्तव में ऐसे निन्दनीय प्रेम द्वारा वे अपनी संतान पर बचपन से ही बुरे संस्कार डालते हैं। आजकल प्रसूतिगृहों में स्त्रियों की अधिक मृत्यु होने का एक कारण यह भी है कि वे कच्ची उम्र में ही गर्भवती हो जाती हैं।

प्रसव-वेदना की वृद्धि में पुरुषों का अत्याचार भी एक कारण है। मन पर नियंत्रण न रखने से और खान-पान आदि का विवेक न रखने से ही यह भयानक स्थिति उत्पन्न हो गई है। आज जो थोड़े से धनवान् लोग हैं वे यह सोचते हैं कि हम तो मौज-मजा करें—स्त्री मर जाय तो भले मर जाय—दूसरी अनायास ही मिल जायगी। इस दुर्भावना के कारण वे उचित-अनुचित का ख़याल नहीं रखते। एक पत्नीव्रत की भावना होती तो यह खराब स्थिति उत्पन्न न होती। पर एक पत्नीव्रत की भावना न होने से अनेक स्त्रियाँ पुरुषों की विषयवासना का भोग बन गई हैं।

कहने का आशय यह है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए सर्व प्रथम भावना शुद्ध रखनी चाहिए, दूसरे भोजन पर नियंत्रण

रखना चाहिए और तीसरे पोशाक का ध्यान रखना चाहिए। पोशाक का भावना के साथ भी घनिष्ठ संबंध है। हम साधुजन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं अतएव वस्त्रों का हमें बहुत ध्यान रखना पड़ता है। यदि हम श्वेत वस्त्र के बदले रंगीन वस्त्र पहनें तो तुम लोग हमें उपालंभ दोगे और कहोगे कि साधुओं को रंगीन वस्त्र पहनना उचित नहीं है। पर वस्त्रों के विषय में जैसे साधुओं का ध्यान रखते हो वैसा ध्यान तुम अपने लिये क्यों नहीं रखते ?

कितनेक लोग अपनी फिलॉसफी बघारते हुए कहते हैं कि हम खादी पहिनें या विलायती वस्त्र पहिनें, इसमें क्या धरा है? वस्त्रों के विषय में राग-द्वेष क्यों रखना चाहिए ? इस प्रकार कुछ लोग वस्त्रों की बात को राग-द्वेष का रूप देते हैं और खादी के वस्त्रों को राजनीतिक रूप देते हैं। पर वास्तव में खादी में, मिल के वस्त्र में और विदेशी वस्त्र बहुत अन्तर है। पहले यही देखो कि मील के और चर्बी लगे हुए वस्त्रों का आरम्भ कब से हुआ है ?

वस्त्र बनाने की कला सर्व प्रथम भगवान् ऋषभदेव ने सिखाई थी। क्या भगवान् यंत्रकला से अनभिज्ञ थे जिससे उन्होंने मिल का निर्माण और उसके द्वारा वस्त्र बनाना नहीं बताया ? वस्तुतः वे यंत्रकला से अनभिज्ञ नहीं थे, मगर उनकी यह मान्यता थी कि यंत्रकला में जगत् का विनाश सन्निहित है ! यही कारण है कि उन्होंने यंत्रकला जैसी तूफ़ानी कला नहीं सिखाई थी। उन्होंने ऐसी सादी कला का उपदेश दिया जिससे जनता अपना जीवन-निर्वाह भी कर सके और उसे किसी प्रकार की हानि भी न पहुँ-

चने पाए। जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में कहा है कि भगवान ऋषभदेव ने 'जणाहिपट्ठाए' अर्थात जनता के हित के लिए कला का उपदेश दिया था। भगवान् यंत्र-कला को एक प्रकार का तूफान मानते थे अतएव उन्होंने इस कला का उपदेश न देकर ऐसी सादी कला जनता को सिखाई कि जिससे जनता सुगमता के साथ अपना निर्वाह कर सके।

कहने का तात्पर्य यह है कि पोशाक में भी विवेक की आवश्यकता है। सादी पोशाक पहनने वाले और चटकीली-भड़कीली पोशाक पहनने वाले पुरुष की भावनाएं भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। जो लोग मिल के चमकीले वस्त्र पहनते हैं वे अगर खादी पहनकर देखें तो उन्हें ज्ञात होगा कि वस्त्र के साथ भावना का कितना घनिष्ट संबंध है? कदाचित् कोई कहने लगे कि खादीधारियों में भी लुच्चे-लफंगे पाये जाते हैं; तो इसका उत्तर यह है कि साधु-वेषधारियों में क्या कुछ बुरे लोग नहीं होते? साधुवेषियों में कौन भला है, कौन बुरा है, यह निर्णय जैसे अपनी बुद्धि से करते हो वैसे ही खादी-धारियों में भी भले-बुरे की पहचान कर सकते हो। यदि कोई खादी पहनने वाला मनुष्य धूर्त या लुच्चा है तो क्या यह कहा जा सकता है कि सभी खादी पहनने वाले धूर्त या लुच्चे होते हैं? सब धान बाईस पंसेरी नहीं तुलते! कहावत है — 'फैशन फाँसी है, सादगी आजादी।' अर्थात् फैशन से बंधनों की वृद्धि होती है और सादगी से आजादी हासिल होती है। अतएव वीर्य-रक्षा के लिए सादगी धारण करके, पोशाक पहनने में विवेक रखना नितान्त आवश्यक है।

वीर्य-नाश का एक कारण एक ही कमरे में, एक ही बिछौने

पर स्त्री-पुरुष का शयन करना भी है। एक ही कमरे में और शय्या पर सोने से वीर्य स्थिर नहीं रह सकता। शास्त्र में जहाँ स्त्री और पुरुष के सोने का वर्णन मिलता है वहाँ ऐसा ही वर्णन है कि स्त्री और पुरुष अलग-अलग शयनागार में सोते थे। पर आज इस नियम का पालन होता नजर नहीं आता।

निष्क्रिय बैठे रहना भी वीर्यनाश का एक कारण है। जो लोग अपने शरीर और मन को किसी सत्कार्य में संलग्न नहीं रखते उन लोगों का वीर्य भी स्थिर नहीं रह सकता। यदि शरीर और मन को निष्क्रिय न रक्खा जाय तो वीर्य को हानि नहीं पहुँचती।

रात्रि में देर तक जागरण करना, सूर्योदय होने के बाद भी सोते रहना और अश्लील साहित्य का पढ़ना, यह सब भी वीर्य-नाश के कारण हैं। अश्लील चित्र देखने से और अश्लील पुस्तकें पढ़ने से भी वीर्य स्थिर नहीं रहता। आज जहाँ-तहाँ अश्लील पुस्तकें पढ़ने और अश्लील चित्र देखने का प्रचार हो गया है। आजकल लोग महापुरुषों और महासतियों के जीवन-चरित्र पढ़ने के बदले अश्लीलता पूर्ण पुस्तकें पढ़ने के शौकीन हो गये हैं। उन्हें यह विचार ही नहीं आता कि ऐसा करने से जीवन में कितने विकार आ घुसे हैं! कहावत है—'जैसा बांचन वैसा विचार।' इस कहावत के अनुसार अश्लील पुस्तकों के पठन से लोगों के विचार भी अश्लील बनते जा रहे हैं।

नाटक-सिनेमा देखना भी वीर्य-नाश का कारण है। आज-कल नाटक-सिनेमाओं की धूम मची हुई है। जहाँ देखो वहीं

गरीब से लेकर अमीर तक—सबको नाटक-सिनेमाओं में फँसाने का प्रयत्न किया जा रहा है। और इस प्रकार सिनेमा वीर्य-नाश के साधन बन रहे हैं।

कदाचित् कोई कहने लगे कि सब नाटक-सिनेमा खराब नहीं होते, कुछ तो बहुत ही अच्छे होते हैं। बहुतेरे नाटकों में राम-हरिश्चन्द्र जैसे महापुरुषों के चित्र प्रदर्शित किये जाते हैं। ऐसी अवस्था में नाटक देखने में क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि यदि किसी बगीचे में दो-चार वृक्ष अच्छे हों और शेष सभी वृक्ष जहरीले हों तो क्या तुम उस बगीचे में जाना पसंद करोगे? इसी प्रकार नाटकों में कुछ ही पात्र नाम-मात्र के लिए अच्छे होते हैं। शेष सभी पात्र खराब होते हैं और मन पर उनका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। आजकल के सिनेमा तो नैतिकता से इतने पतित और निर्लज्जतापूर्ण होते सुने जाते हैं कि कोई भला मानुस अपने बाल-बच्चों के साथ उन्हें देख नहीं सकता। सिनेमाओं के कारण आज लाखों नवयुवक आचरणहीन बन रहे हैं। इन सिनेमाओं की बदौलत भारतीय नारी अपनी महत्ता का विस्मरण कर भारतीय सभ्यता के मूल में कुठाराघात कर रही है। यह अत्यन्त खेद की बात है। इसी प्रकार ग्रामोफोन को भी आनन्द का साधन समझा जाता है पर उसके द्वारा संस्कारों में कितनी बुराइयाँ घुस रही हैं, इस ओर कितने लोगों का ध्यान जाता है?

स्वप्नदोष में भी वीर्य का नाश होता है। कुछ लोग कहा करते हैं कि वीर्य-रक्षा से स्वप्नदोष होता है पर यह कथन भ्रमपूर्ण है। इस भ्रमक विचार का परित्याग करके, स्वप्नदोष के असली कारण का पता लगाना चाहिए। फिर उस कारण से बच कर दोष-निवा-

रण का प्रयत्न करना चाहिए। जब तुम सो रहे होओ तब तुम्हारे जेब में से अगर कोई रत्न निकाल कर लेजाने लगे और उसी समय तुम जाग उठो तो आँखों देखते क्या रत्न लेजाने दोगे? नहीं, तो फिर स्वप्नदोष के कारण जान-बूझ कर वीर्य को नष्ट होने देना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है?

वीर्यरक्षा करने के लिए ऊपर जिन उपायों का निर्देश किया गया है, उनके साथ ही साथ आत्म-संयम की भी आवश्यकता है। आत्म-संयम के लिए परमात्मा की प्रार्थना करते रहो। इससे तुम्हें उस परम तत्व की प्राप्ति होगी जो अबतक तुम्हें प्राप्त नहीं हो सका है।

अब इन सब बातों का सार एक प्राचीन कथा द्वारा तुम्हें समझाता हूँ।

ब्रह्मचर्य के विषय में भी आज युवकों और वृद्धों में बड़ी खेंचतान चल रही है। कुछ लोग कहते हैं—कन्या को अपनी इच्छा के अनुसार वर पसंद कर लेने का अधिकार है, पर जाति-भेद आदि कारणों से इस अधिकार में बाधा खड़ी हुई है। इसके विरुद्ध पुराने जमाने के वृद्ध या उन जैसे विचार रखने वाले लोग कहते हैं—'आज का युवक उच्छृंखल बन गया है, अतएव लड़कों और लड़कियों को जरा भी अधिकार नहीं है। हम जिसके साथ उनका विवाह करेंगे उसी के साथ रहने को उन्हें तैयार रहना चाहिए।'

इस प्रकार वृद्धों और युवकों के बीच संघर्ष चल रहा है। इस संघर्ष का किस प्रकार निवारण किया जा सकता है? यह बात इस प्राचीन कथा से जानी जा सकेगी।

भीष्मकुमार की कथा

यह भीष्मकुमार की कथा है। पहले भीष्म का नाम गंगकुमार था। फिर उनका नाम देवव्रत हुआ और फिर भीष्म प्रतिज्ञा करने के कारण 'भीष्म' नाम पड़ गया।

एक वार भीष्म से किसी ने कहा—आपने ववाह न करके बहुत बुरा किया है। इससे भारत को बहुत हानि पहुँची है। अगर आप विवाह करते तो आपकी संतान भी आपकी ही तरह पराक्रमी और वीर्यवान् होती पर आपके विवाह न करने से भारत ऐसी संतान से वंचित रह गया! यही भारत की बड़ी हानि है।

भीष्मकुमार ने कहा—मं विवाह करता तो मेरी संतान भी मेरी जैसी होतीं, यह नहीं कहा जा सकता। क्षीरसागर में विष भी हो सकता है! मगर मेरे ब्रह्मचर्य को आदर्श मानकर न मालूम कितने व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे और इस प्रकार अपना तथा जगत् का कल्याण करेंगे।

गंगकुमार का विचार पहले ब्रह्मचर्य पालने का नहीं था। किन्तु उन्होंने सोचा—जहाँ तक मैं आजीवन ब्रह्मचर्य न पालूंगा तहाँ तक पिता की इच्छा पूरी नहीं हो सकती। इस प्रकार अपने पिता की इच्छा की पूर्ति के लिए उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन किया। इस कथा से यह भी विदित होजायगा कि पिता का क्या धर्म है और पुत्र का क्या कर्त्तव्य है?

सत्यवती उर्फ मत्स्यगंधा या योजनगंधा को देख कर राजा शान्तनु ने उसके साथ वार्तालाप किया और मन ही मन यह भी निश्चय कर लिया कि इस सर्वोत्कृष्ट कन्या के साथ विवाह कर इसे

रानी बना लेना चाहिए। अब वह यह सोचने लगे कि इस विचार को कार्य रूप में किस प्रकार परिणित किया जाय ? राजा ने पूछा—'तुम किसकी पुत्री हो ?' कन्या ने उत्तर दिया—'सुदास की'।

राजा अपनी सत्ता से सुदास को अपने पास बुला सकता था। पर केवल हुक्म चलाना बुद्धि का कार्य है, हृदय का कार्य तो धर्म का विचार करना है। राजा शान्तनु धर्म का विचार कर स्वयं याचक बनकर सुदास के पास गया। राजा ने उसे दाता बनाया और आप स्वयं याचक बना। यहाँ यह देखने योग्य है कि कन्या के पिता का क्या कर्तव्य है ? सुदास यह सोच सकता था कि मैं अपनी कन्या राजा को दे दूंगा तो मेरा वैभव बढ़ेगा और मैं धनवान बन जाऊँगा। पर वह इस प्रलोभन में नहीं पड़ा। उसने अपनी कन्या का भावी हित देखा और एक राजा द्वारा मँगनी करने पर भी उसने राजा से कहा—'मैं अपनी कन्या आपको देने में असमर्थ हूँ। आपका पुत्र गंगकुमार विकट वीर है। राज्य का स्वामी वही बनेगा और मेरी कन्या से उत्पन्न हुआ पुत्र राज्य का अधिकारी नहीं हो सकेगा। वह इधर-उधर मारा-मारा भटकता फिरेगा। अतएव मैं अपनी कन्या आपको देने के लिए लाचार हूँ।' वास्तव में माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे अपनी संतान के हित पर पहले ध्यान दें। उन्हें अपने स्वार्थ-साधन का जरिया न बनावें।

सुदास का उत्तर सुनकर राजा सोचने लगा—'यद्यपि यह कन्या मुझे अत्यन्त प्रिय है, किन्तु इसके लिए अपने प्रिय पुत्र गंगकुमार का अधिकार कैसे छीना जा सकता है ? मैं अपनी

इच्छा को दबाये रक्खूंगा, पर गंगकुमार के अधिकार का अपहरण न करूंगा।'

भाँति-भाँति के विचारों में डूबता-उतराता हुआ राजा राज-महल की ओर लौट आया। वह सुदास की कन्या की मँगनी करने के लिए पश्चात्ताप करने लगा। दूसरी ओर उसका हृदय सुदास की कन्या की ओर अत्यन्त आकृष्ट हो गया था और इस कारण वह सुन्दरी कन्या उसके मानस-चक्षुओं के सामने पुनः पुनः प्रकट हो कर राजा को चिन्तातुर बनाये हुए थी। इसी चिन्ता का मारा राजा दिनों-दिन क्षीण होता जारहा था।

पिता की चिन्ता का कारण मंत्रियों द्वारा जानकर गंगकुमार ने अपने पिता का कष्ट दूर करने के उद्देश्य से सुदास के पास जाने का निर्णय किया। मंत्रियों ने कहा—सुदास को यहाँ क्यों न बुला लिया जाय? आपका उसके पास जाना नहीं सोहता! गंगकुमार ने कहा—जब हम उसकी कन्या लेना चाहते हैं तो धर्म-विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए। अतः उसी के घर जाना उचित है। इस प्रकार निर्णय कर गंगकुमार मंत्रियों के साथ सुदास के घर चला। गंगकुमार और मंत्रियों को अपने घर की ओर आता देख सुदास ने सोचा—मैंने महाराज को अपनी कन्या देना स्वीकार नहीं किया है, शायद इसी कारण मुझे दंड देने के लिए तो ये लोग नहीं आरहे हैं? पर मैंने उन्हें कोई अनुचित उत्तर नहीं दिया। ऐसी अवस्था में अगर प्राण जाएँ तो चले जाएँ, मुझे डर किस बात का है!

गंगकुमार ने सुदास से कहा—'अपना सौभाग्य समझो कि

पिताजी तुम्हारी कन्या चाहते हैं और तुम्हारे जामाता बन रहे हैं। नातेदारी के लिहाज से तुम मेरे नाना बन रहे हो। फिर भी- तुम इस संबंध को अस्वीकार क्यों कर रहे हो ?' सुदास ने उत्तर दिया — इस संबंध में आपही बाधक हैं। यदि आप यह प्रतिज्ञा करें कि सत्यवती (मत्स्यगंधा) का पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा, तो महाराज के साथ अपनी कन्या का विवाह करने में मुझे तनिक भी आनाकानी नहीं है !

सुदास का उत्तर सुनकर गंगकुमार सोचने लगे—'आज वास्तव में यज्ञ का अवसर उपस्थित है।' लोग यज्ञ का अर्थ सिर्फ आग में घी होमना करते हैं पर सच्चा यज्ञ क्या है, इस विषय में कहा गया है:—

श्रोत्रादीनीन्द्रियान्यन्ये संयमाग्निषु जुह्नति,
शब्दादिविषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्नति।
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे,
आत्मसंयमभोगाग्नौ जुह्नति ज्ञानदीपिते।

आज श्रोत्र आदि इन्द्रियों को पिता के हित के लिए मैं यज्ञ में समर्पण करता हूँ। हे कान ! तू ने बहुत बार सुना है कि गंगकुमार युवराज है, पर अब इस कथन का पिता के हित की अग्नि में आज उत्सर्ग करना होगा और सत्यवती का पुत्र युवराज है, इस कथन में आनंद मानना होगा ! ऐ नेत्रों ! तुम राजसी पोशाक को देखकर आनंद मानते थे, पर अब इस इच्छा को यज्ञ में होमना होगा और भाई को राजा के रूप में देखकर प्रफुल्लित

होना पड़ेगा ! हे ओ जिह्वा ! तू भी अपने विषयों से लोलुपता त्याग दे, क्योंकि पिता के हित के लिए तेरे विषयों को भी मैं यज्ञ की सामग्री बनाऊँगा ! अरे मस्तक ! तू बहुत दिनों तक उन्नत ऊँचा रहा है पर अब सत्यवती के पुत्र के सामने मुझे झुकना होगा ! और उसे राजा स्वीकार करना होगा।

अग्नि में घी का होम करके यज्ञ करने वालों की कमी नहीं है पर ऐसा महान् यज्ञ करने वाले विरले ही होते हैं।

गंगकुमार कहता है—हे शरीर ! तू राजा बनना चाहता था पर अब भाई को राजा बनाकर अपने हाथ से उसके ऊपर चँवर ढोरने पड़ेंगे। इस प्रकार पिता के हित के लिए अपने स्वार्थ का यज्ञ करना पड़ेगा।

युवकों के लिए यह एक महान् आदर्श है। देश, धर्म और माता पिता के लिए ऐसा अनूठा त्याग करने वाले युवकों की बात कौन नहीं मानेगा ?

इसी प्रकार पिता का कर्त्तव्य क्या है ? यह बात राजा शान्तनु के विचारों से देखो। राजा चाहता तो यह वचन दे सकता था कि सत्यवती की कूंख से जन्म लेने वाला पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा और यह वचन देकर वह सत्यवती के साथ विवाह कर सकता था। पर उसने ऐसा नहीं किया। उसने सोचा—मैं अपनी कामना की पूर्ति की खातिर पुत्र के अधिकार का अपहरण कैसे कर सकता हूँ ! इस विचार के वशवर्ती होकर उसने अपनी इच्छा का दमन करना न्याय-संगत समझा, पर पुत्र के अधिकार को छीनना उचित न समझा। इसी प्रकार जहाँ पिता-

पुत्र एक दूसरे के हित का ही विचार करते हैं वहाँ कभी आपसं वैमनस्य या संघर्ष उत्पन्न नहीं होता। वृद्ध और युवक इसी भांति हिलमिल कर चलें तो उत्थान और शान्ति के साथ-साथ आनंद का सर्वत्र प्रचार हो सकता है।

तो गंगकुमार ने सुदास से कहा—'पिता के हित क यज्ञ में मैंने अपना सर्वस्व होम दिया है, इस कारण, सुदास! मैं तुम्हारे सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं राज्य स्वीकार नहीं करूँगा और तुम्हारी पुत्री से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही राज्य का अधिकारी होगा।'

गंगकुमार की यह प्रतिज्ञा सुनकर सुदास कहने लगा—'आप वास्तव में वीर पुरुष हैं। आप जैसी प्रतिज्ञा और कौन कर सकता है? पर मुझ से एक भूल होगई है। आपका पुत्र भी आप ही जैसा पराक्रमी होगा। आप राज्य नहीं स्वीकार करेंगे पर आपका पुत्र, मेरी पुत्री के पुत्र को राज-सिंहासन पर भला कब बैठने देगा? वह यह कहेगा कि राज्य मेरे पिता के अधिकार में है अतएव राज्य का असली अधिकारी मैं ही हूँ। मेरे पिता ने यदि राज्य त्याग दिया था तो क्या हुआ? मैंने तो कभी राज्य का परित्याग नहीं किया है। मैं अपने उत्तराधिकार को क्यों त्याग दूँ? इस प्रकार कहकर आपका पुत्र, मेरी पुत्री के पुत्र को राज्यसिंहासन पर न बैठने दे, यह संभव है। ऐसी परिस्थिति में अपनी कन्या आपके पिताजी को सौंप देना मेरे लिए शक्य नहीं है।'

जो लोग अपनी कन्या को धन के लोभ में फँसकर बेच

डालते हैं, उन्हें सुदास के कथन पर विचार करना चाहिए। एक साधारण श्रेणि का आदमी-धीवर भी अपनी कन्या के अधिकार के संरक्षण के लिए कितने उन्नत विचार रखता है। उच्च श्रेणि और उच्च-कुलीन होने का दावा करने वालों को अपनी पुत्री के अधिकारों के संबंध में कितने उच्चतर विचार रखने चाहिएं!

सुदास का यह कथन सुनकर गंगकुमार ने कहा—"तुमने ठीक कहा है। तुम्हें मेरे भावी पुत्र का भय है, पर यदि मैं विवाह ही नहीं करूँगा तो पुत्र कहाँ से आएगा? अतएव मैं देव, गुरु और धर्म की साक्षी से प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं जीवन-पर्यन्त विवाह नहीं करूँगा। मैं जीवन भर ब्रह्मचारी रहूँगा।"

गंगकुमार ने विवाह करने का भी त्याग किया था, पर आज इससे ठीक विपरीत अवस्था दिखाई देती है। आज अनेक लोलुप विवाह करके भी नैमित्तिक सम्बन्ध जोड़ने से नहीं हिचकते! और यूरोप की तो लीला ही निराली है। वहाँ विवाह के बंधन को ही बुरा समझा जाता है। और कहा जाता है स्वेच्छा से बंधन में पड़ना भला-कौन सी बुद्धिमत्ता है! इस धारणा के कारण वहाँ स्वैर विहार का प्रचार हो रहा है। अनेक पुरुष और युवतियाँ वहाँ न विवाह करते हैं, न ब्रह्मचर्य ही पालते हैं! इससे दुराचार और तज्जन्य अनर्थ फैल रहे हैं। यह पतन का पथ है। पर तुम्हारे सामने तो भीष्म का भव्य आदर्श विद्यमान है। अतएव ब्रह्मचर्य की आराधना और साधना में ही अनेक महान् मंगल निहित हैं।

गंगकुमार की इस भीष्म प्रतिज्ञा को सुना, तो सुदास और सत्यवती स्तब्ध रह गये। गंगकुमार ने ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा की

थी, इसी कारण उनका नाम ही 'भीष्म' पड़ गया। अन्त में भीष्म सत्यवती को अपने पिता के पास ले गये। सत्यवती का राजा शान्तनु ने यथाविधि पाणिग्रहण किया। भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन किया। उन्होंने विवाह नहीं किया था फिर भी ब्रह्मचर्य के कारण वे जगत् में 'पितामह' के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हुए।

तुम भी ब्रह्मचर्य के आदर्श का अनुसरण करो। वृद्ध और युवक एक-दूसरे के साथ हिलमिल कर रहो। इसी में स्व-पर कल्याण है!

तथास्तु।

संतति-नियमन

समुद्रविजय-सुत श्रीनेमीश्वर, जादव कुल को टीको,
रतन कूंख धरणी शिवादेवी, तेहनो नन्दन नीको।
श्री जिन मोहनगारो छे, जीवन प्राण हमारो छे ॥१॥

श्री अरिष्टनेमि भगवान् की यह प्रार्थना की गई है। आज मुझे जिस विषय पर बोलने के लिए कहा गया है, वह विषय भगवान् अरिष्टनेमि की प्रार्थना में ही प्रतिभासित हो रहा है।

संसार की दशा सुधारने के लिए महापुरुषों ने जो आचरण किया है और उन्होंने जिस पथ पर प्रयाण किया है, उस पथ का अनुसरण करने के लिए वे समस्त संसार को आह्वान कर गये हैं। उन्होंने कहा—ऐ जगत् के जीवो! समय की विचित्रता और विपरीतता के कारण कदाचित् तुम्हारे सामने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जब तुम किंकर्तव्य-मूढ़ हो जाओ-तुम्हें यह न सूझ पड़े कि ऐसी दशा में क्या करें, क्या न करें? उस

समय तुम लोग हमारे आचरण को दृष्टि में रख कर, हम जिस मार्ग पर चले हैं उस मार्ग पर चलोगे और उस मार्ग को छोड़ कर उलटे मार्ग पर नहीं चलोगे तो, तुम्हारा कल्याण होना निश्चित है। इस प्रकार महापुरुष अपने आचरण का आदर्श जगत् के हित के लिए उत्तराधिकार के रूप में छोड़ गये हैं।

इन महापुरुषों में भगवान् अरिष्टनेमि का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। वे संसार के समक्ष ब्रह्मचर्य का उच्च आदर्श उपस्थित कर गये हैं। आज उनके समान परिपूर्ण ब्रह्मचर्य न पाला जा सके, तो भी यदि उनके ब्रह्मचर्य के आदर्श को दृष्टि के सामने रख कर जीवन-व्यवहार चलाया जाय तो कल्याण हो सकता है।

भगवान् अरिष्टनेमि ने भर जवानी में विवाह करने का त्याग किया था। यद्यपि वे ब्रह्मचारी ही रहने वाले थे और उनसे पहले के इक्कीस तीर्थंकरों ने उनके विषय में यही भविष्यवाणी की थी कि भगवान अरिष्टनेमि बाल-ब्रह्मचारी रहेंगे; फिर भी उन्होंने स्वयं यह घोषित नहीं किया था कि—'मैं' बाल-ब्रह्मचारी रहूँगा—ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा।' इसका कारण मुझे अपनी बुद्धि के अनुसार यह प्रतीत होता है कि उस समय संसार में हिंसा का घोर पातक फैला हुआ था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उस समय अहिंसा की प्रवृत्ति थी ही नहीं, या ब्रह्मचर्य को बुरी निगाह से देखा जाता था; पर इन्द्रिय लोलुपता के कारण उस समय हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था। रसेन्द्रिय के लोलुप लोग अपनी लोलुपता का पोषण करने के लिए घोर हिंसा करने में संकोच नहीं करते थे। मेरी समझ में, इस घोर हिंसा का

निवारण करने के लिए ही भगवान् ने बाल-ब्रह्मचारी रहने की घोषणा नहीं की थी।

संतति-नियमन

भगवान् अरिष्टनेमि के समय में रसेन्द्रिय की लोलुपता बढ़ जाने का ही उल्लेख मिलता है, किन्तु इस जमाने में जननेन्द्रिय की लोलुपता ने प्रचण्ड रूप धारण किया है और इसके फलस्वरूप सन्तानोत्पत्ति में वृद्धि हो रही है। संतानों की इस बढ़ती को देख कर कई लोग यह सोचने लगे हैं कि गरीब भारतवर्ष के लिए सन्तान-वृद्धि एक असह्य भार है। इस भार से भारत को बचाने के लिए उपाय ईजाद किया गया है कि सन्तान की उत्पत्ति के स्थान को ही नष्ट कर दिया जाय! न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी!

यह उपाय संतति-नियमन या संतति-निरोध कहलाता है। और इसी विषय पर मुझे अपने विचार प्रकट करने के लिए कहा गया है। इस विषय का न तो मेरा अधिक अभ्यास है और न अध्ययन ही। पर समाचारपत्रों और कुछ पुस्तकों को पढ़ कर मैं यह जान पाया हूँ कि कुछ लोग बड़े जोर-शोर से कहते हैं कि—बढ़ती जाती हुई संतान को अटकाने के लिए शस्त्र या औषध द्वारा स्त्रियों की जनन-शक्ति का नाश कर दिया जाय, उनके गर्भाशय का ऑपरेशन कर डाला जाय, या फिर उनके गर्भाशय को इतना निर्बल बना दिया जाय कि संतान की पैदाइश हो ही न सके। इस उपाय द्वारा संतति-निरोध करने की आवश्यकता बतलाते हुए वे लोग कहते हैं:—

संसार आज बेकारी के बोझ से दबा जा रहा है। भारतवर्ष तो विशेष रूप से बेकारी की बीमारी का मारा कराह रहा है। ऐसी दुर्दशा में खर्च में वृद्धि करना उचित कैसे कहा जा सकत है ? इधर संतान की वृद्धि के साथ अनिवार्य रूप से व्यय में वृ होती है। संतान जब उत्पन्न होती है तब भी खर्च होता है, उस पालन-पोषण में खर्च होता है, उनकी शिक्षा-दीक्षा में भी ख उठाना पड़ता है। उस दशा में जब कि अपना और अपनी पत्न का पेट पालना भी दूभर हो पड़ा है, संतान उत्पन्न करके ख में वृद्धि करना आर्थिक संकट को अपने हाथों आमंत्रण देना है आर्थिक संकट के साथ अन्य अनेक कष्ट बढ़ जाते हैं। अतए स्त्रियों की जनन-शक्ति नष्ट करके यदि संतानोत्पत्ति से छुटकार पा लिया जाय तो बहुत-से कष्टों से बचा जा सकता है।

यह आधुनिक सुधारकों या संतति-नियमन के कृत्रिम उपायं के प्रचारकों की प्रधान युक्ति है। इस पर यदि गहरा विचा किया जाय तो साफ मालूम हो जायगा कि यह युक्ति निस्सा है। संसार में बेकारी बढ़ गई है, गरीबी बढ़ गई है, और इससे दुःख बढ़ गया है, इस कारण संतति-नियमन की आवश्यकता है यह सब तो ठीक है। किन्तु गरीबी और बेकारी की विपदा से बचने के लिए संतति-निरोध का जो उपाय बताया जाता है वह उपाय प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त ही हानिकारक, निन्दनीय और घृणित है। इस संबंध में मैं जो सोचता हूँ उसे कोई माने या न माने, यह अपनी-अपनी इच्छा और संस्कार पर निर्भर है, पर मैं प्रकट कर देना चाहता हूँ। आजकल यह कहा जाता है कि यह विचार-स्वातन्त्र्य का युग है। सबको अपने-अपने विचार

प्रकट करने का अधिकार है। यदि यह सच है तो मुझे भी अपने विचार प्रकट करने का अधिकार है। अतएव इस संबंध में जो बात मेरे मन में आई है वह प्रगट कर देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

कल्पना करो एक अत्यन्त सुन्दर बगीचा है। इस बगीचे में भाँति-भाँति के वृक्ष हैं। इन वृक्षों में एक बहुत ही सुन्दर वृक्ष है। भारतीयता की दृष्टि से इस सुन्दर वृक्ष को आम का पेड़ समझा जा सकता है। क्योंकि आम भारतवर्ष का ही वृक्ष है, ऐसा सुना जाता है।

समय के परिवर्तन के कारण अथवा जमीन नीरस हो जाने के कारण, आम के वृक्ष में यद्यपि फल बहुत लगते हैं किन्तु जो फल पहले सुन्दर, स्वादिष्ट और लाभकारक होते थे उनके बदले अब उसमें नीरस और हानिकारक फल आने लगे हैं। अब कुछ लोग, जो जनसमाज के हितैषी होने का दावा करते हैं, आपस में मिल कर यह विचार करने लगे कि आम के फलों से जनता में फैलने वाली बीमारी का निवारण किस प्रकार किया जाय ?

उनमें से एक ने कहा—इसमें आम के पेड़ का तो कोई अपराध नहीं है। पेड़ बेचारा क्या कर सकता है ? उसके फलों से जनता को हानि पहुँच रही है और जनता को उस हानि से बचाने का भार बुद्धिमानों पर है, अतएव बुद्धिमानों को ऐसा कोई उपाय खोजना चाहिए जिससे यह सुन्दर वृक्ष भी नष्ट न हो और उसके फलों से जनता को हानि भी न पहुँचे।

दूसरे ने कहा—मैं ऐसी एक रासायनिक औषधि जानता हूँ

जिसे इस वृक्ष की जड़ में डाल देने से वृक्ष फल देना ही बंद कर देगा। ऐसा करने से सारा झंझट ही मिट जायगा। उस औषधि के प्रयोग से न तो वृक्ष में फल लगेंगे, न लोग उसके फल खाने पावगे। तब फलों द्वारा होने वाली हानि आप ही बंद हो जायगी।

तीसरे ने कहा—वृक्ष में फल ही न लगने देना उसकी स्वाभाविकता का विनाश करने के समान है। ऐसा किया जायगा तो आम वृक्ष का नाम-निशान तक शेष न बचेगा। इसलिए यह उपाय उचित नहीं प्रतीत होता।

चौथे ने कहा—मैं एक ऐसा उपाय बता सकता हूँ जिससे वृक्ष में अधिक फल नहीं आने पाएँगे। जितने फलों की आवश्यकता होगी उतने ही फल आएँगे और शेष सारे नष्ट हो जाएँगे।

पाँचवाँ बोला—इससे लाभ ही क्या हुआ? जितने भी फल नष्ट होने से बच रहेंगे वे तो हानि-जनक होंगे ही। वे भी नीरस, निस्सत्व और खराब ही होंगे। तो फिर इस उपाय से दुनिया को क्या लाभ होगा? मैं एक ऐसा उपाय जानता हूँ, जिससे यह वृक्ष भी सुन्दर और सुदृढ़ बनेगा और इसके फल भी स्वादिष्ट और स्वास्थ्यकारी होंगे। साथ ही जितने फलों की आवश्यकता होगी उतने ही फल उसमें लगेंगे अधिक नहीं लगेंगे। वे फल इतने मधुर और लाभप्रद होंगें कि उनसे किसी को हानि पहुँचने की संभावना तक न रहेगी, वरन् लाभ ही लाभ होगा।

चौथे सज्जन ने कहा—यह एकदम अनहोनी बात है। ऐसा

कोई भी उपाय सफल नहीं हो सकता। इस उपाय से वृक्ष भी नहीं सुधर सकता और आवश्यकता के अनुसार परिमित फल भी नहीं आ सकते।

पाँचवें ने उत्तर दिया—भाई, तुम्हारा उपाय कारगर हो सकता है और मेरा उपाय नहीं, यह क्यों ? मेरी बात का समर्थन करने वाले अनेक प्रमाण मौजूद हैं। प्राचीन कालीन शास्त्र से भी मेरी बात पुष्ट होती है और वर्तमान कालीन व्यवहार से भी सिद्ध हो सकती है। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु को भी स्वीकार न करना और असंभव कहकर टाल देना कहाँ तक उचित है ?

इस पाँचवें सज्जन ने अपने कथन के समर्थन में ऐसे अनेक प्रमाण उपस्थित किये जिनसे प्रभावित होकर सबने एक स्वर से उसका कथन स्वीकार कर लिया और उसके द्वारा बताया हुआ उपाय सब ने पसंद किया।

यह एक दृष्टान्त है और संतति-नियमन के संबंध में इसे इस प्रकार घटित किया जा सकता है:—

यह संसार एक बगीचे के समान है। संसारी जीव इस बगीचे के वृक्ष हैं। जीव-रूपी इन वृक्षों में मानव-वृक्ष सबसे श्रेष्ठ है। इस मानव-रूपी वृक्ष में किसी कारण से अति सन्तान-रूप फल बहुत लगते हैं और ये फल निःसत्व और हानिकारक होने से भार-रूप प्रतीत होते हैं। अति संतति की बदौलत मनुष्य के बल-वीर्य का ह्रास हो रहा है, खर्च का भार बढ़ गया है, बेकारी बढ़ गई है और अतएव सन्तान भी दुःखी हो रही है।

आज के सुधारक—जो अपने को संसार के और विशेषतः

मानव समाज के हितैषी मानते हैं—इस दुरावस्था को समझे और उसे दूर करने के लिए उपायों पर विचार करने लगे।

इन सुधारकों में से एक कहता है—विज्ञान की बदौलत मैंने एक उपाय ऐसा खोज निकाला है, जिससे मनुष्य रूपी वृक्ष कायम रहेगा, उसके सुख सौन्दर्य को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचेगी, और साथ ही उस पर अति संतति रूप-भार भी न पड़ेगा। और वह उपाय यह है कि शस्त्र या औषध के प्रयोग से गर्भाशय का सफाया कर दिया जाय !

इस प्रकार संतति-नियमन के लिए एक व्यक्ति गर्भाशय का नाश करने की सम्मति देता है। दूसरा कहता है कि ऐसा करने से तो मनुष्य समाज ही समूल नष्ट हो जायगा, अतएव यह उपाय प्रयोजनीय नहीं है।

आजकल के सुधारक बढ़ती हुई संतति का निरोध करने के लिए इसी को अंतिम उपाय मानते हैं। बहुत-से लोगों को यह उपाय पसंद भी आ गया है और वे इसका प्रचार भी करते हैं। सुना तो यहाँ तक जाता है कि इस उपाय का प्रचार करने के लिए सरकार भी सहायता दे रही है।

लोग यह सोचते हैं कि इस उपाय का प्रयोग करने से हमारे विषय भोग में भी बाधा नहीं पड़ेगी और हमारे ऊपर संतान का बोझ भी न पड़ेगा। अति संतति की उलझन से भी छुटकारा मिल जायगा और आमोद-प्रमोद में भी कमी न करनी पड़ेगी। जान पड़ता है इसी विचार से प्रेरित होकर लोग इस उपाय का अवलम्बन करने के लिए ललचा उठे हैं।

भगवान् अरिष्टनेमि के जमाने में जिस प्रकार जिह्वा-लोलुपता का प्रचार हो रहा था उसी प्रकार आज जननेन्द्रिय अथवा स्पर्शनेन्द्रिय ने प्रायः सर्व साधारण को अपना दास बना लिया है। विषय-लोलुपता के कारण आज की जनता में अपनी संतान के प्रति भी द्रोह की भावना उत्पन्न हो गई है और इसी कारण संतान को विषय-भोग में बाधक माना जा रहा है। इस विघ्न-बाधा को हटा कर, अपनी काम-लिप्सा को निरंकुश और निर्विघ्न बनाने के जघन्य उद्देश्य से प्रेरित होकर ही लोग उपर्युक्त उपाय काम में लाना पसन्द करते हैं। जहाँ विषय-भोग की वासना में वृद्धि होती है वहाँ इस प्रकार की कुत्सित मनोवृत्ति होना स्वाभाविक है। गीता में कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते,
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः,
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

इन्द्रिय-लोलुपता किस प्रकार विनाश को जन्म देती है, इसका स्वाभाविक क्रम गीता में इस प्रकार बताया गया है :—

विषयों का विचार करने से संग उत्पन्न होता है, संग से काम की उत्पत्ति होती है। काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह अर्थात् अज्ञान का जन्म होता है, अज्ञान से स्मृति का नाश होता है, स्मृति के नाश से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और बुद्धि-भ्रष्ट हो जाने के फल-स्वरूप सर्वनाश होजाता है।

आज संतति-नियमन के लिए जिस दृष्टि को सन्मुख रखकर

उपायों की आयोजना की जारही है और जिन उपायों को कल्याण-कारी समझा जा रहा है, उनका भावी परिणाम देखते हुए यही कहा जा सकता है कि यह सब विनाश का पथ है।

जन साधारण के विचार के अनुसार विषय-भोगों का त्याग नहीं किया जा सकता। इसी भ्रान्त विचार के कारण विषय-लालसा जागृत होकर विषय-भोग का सेवन किया जाता है। अधिक से अधिक स्त्री-संग करके विषयों का सेवन किया जाय, ऐसी इच्छा की जाती है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए कामोत्तेजक गोलियाँ, याक़ूती गोलियाँ आदि जीवन को वर्बाद करने वाली चीजों का उपयोग किया जाता है। आजकल विषय-भोग की लालसा इस सीमा तक बढ़ गई है कि जीवन को मटियामेट करने वाली, कामवर्धक चीजों के विज्ञापनों को रोकने की ओर तो तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता, उलटे संतति रोकने के लिए कृत्रिम उपायों का आश्रय लिया जा रहा है।

कहने का आशय यह है कि स्त्री-संग करने से काम वासना जागृत होती है और उससे क्रोध उत्पन्न होता है। जो काम-वासना को चरितार्थ करने में बाधक हो उस पर क्रोध आना स्वाभाविक ही है। संतान पर क्रोध आने का यही प्रधान कारण है। इस भावना के कारण अपनी प्यारी संतान भी शैतान का अवतार प्रतीत होती है। यही कारण है कि संतान से ख़र्च में वृद्धि होती है, और वह भोग भोगने में विघ्न उपस्थित करती है। इस कारण ऐसे उपायों की योजना की जाती है जिससे संतान पैदा ही न होने पाए। किन्तु यह वृत्ति अत्यन्त भयंकर है। जिस दृष्टि को सन्मुख रखकर आज संतान पर क्रोध किया जाता है, उसके

प्रति द्रोह किया जा रहा है और उसकी उत्पत्ति का नाश किया जा रहा है, उस दृष्टि पर यदि गहरा और दूरदर्शितापूर्ण विचार किया जाय तो, जान पड़ेगा कि यह दृष्टि धीरे-धीरे बढ़ती हुई कुछ-भी काम न कर सकने वाले—अतएव भार-स्वरूप समझ लिये जाने वाले–वृद्ध और अपाहिज पुरुषों के विनाश के लिए प्रेरित करेगी। इससे जिस प्रकार सन्तान के प्रति व्यवहार किया जा रहा है उसी प्रकार वृद्धों के प्रति भी निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने की भावना उत्पन्न होगी। फिर स्त्रियाँ भी यह सोचने लगेंगी कि मेरा पति अब अशक्त और अयोग्य हो गया है। वह मेरे लिए अब भार-स्वरूप है और मेरी स्वतंत्रता में बाधक है। ऐसी दशा में क्यों न उसका विनाश कर डाला जाय ! पुरुष भी इसी प्रकार स्त्रियों को अयोग्य एवं असमर्थ समझ कर उनके विनाश का विचार करेगा। इस प्रकार शस्त्र या औषध का जो कृत्रिम उपाय, खर्च से बचने और संतति-नियमन के काम में लाया जाता है, वही उपाय स्त्री और पुरुष के प्राणों का संहार करने के काम में लाया जाने लगेगा। परिणाम यह होगा कि मानवीय सद्गुणों का नाश हो जायगा, समाज की शृंखला भग्न हो जायगी, हिंसा-राक्षसी की चंडाल-चौकड़ी मच जायगी और जो भयंकर काल अभी दूर है वह एकदम नजदीक आ जायगा।

संतति-नियमन के भयंकर और प्रलयंकर उपाय से और भी अनेक अनर्थ उत्पन्न हो सकते हैं। इस उपाय के विषय में स्त्रियाँ यह सोच सकती हैं कि संतान की बदौलत ही मेरे गर्भाशय का ऑपरेशन किया जाता है, अतएव ऑपरेशन की झंझट से बचने के लिए संतान उत्पन्न होते ही क्यों न उसका गला घोट दूं ?

शस्त्र-प्रयोग से जब संतति की उत्पत्ति रोकी जा सकती है और इस प्रकार संतति के प्रति अन्तःकरण में बसने वाली स्वाभाविक ममता और दया को तिलांजलि दी जा सकती है, तो यह क्या असंभव है कि एक दिन ऐसा आ जाय जब लोग अपनी लूली-लंगड़ी या अविनीत संतान का भी वध करने पर उतारू हो जाएँ ?

इस प्रकार संतति-नियमन के लिए किये जाने वाले कृत्रिम उपायों के कारण घोर अनर्थ फैल जाएँगे और मानवीय अन्तःकरण में विद्यमान नैसर्गिक दया आदि सद्भावनाएँ समूल नष्ट हो जाएँगी ।

यहाँ एक आशंका की जा सकती है । वह यह कि जो संतान उत्पन्न हो चुकी हो उसे नष्ट करना तो पाप है, मगर संतान को उत्पन्न न होने देने के लिए गर्भाशय का ऑपरेशन कराना पाप कैसे कहा जा सकता है ?

इस आशंका का समाधान यह है । मान लीजिए एक मनुष्य किसी नौका में छेद कर रहा है और उस पर बहुत से मनुष्य सवार हैं । वह मनुष्य नौका पर सवार मनुष्यों को तो मार नहीं रहा है, सिर्फ नौका में छेद कर रहा है । तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह सचमुच उन आदमियों के प्राण नहीं ले रहा है ? यदि यह नहीं कहा जा सकता तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उत्पत्तिस्थान को नष्ट करके अपने विषयभोग चालू रखने के लिए हिंसा नहीं की जा रही है ? इसके अतिरिक्त, जब मनुष्य की परोक्ष हिंसा से घृणा नहीं होगी, वरन् जान-बूझकर

परोक्ष हिंसा की जायगी, तो प्रत्यक्ष हिंसा करने में भी घृणा उठ जायगी !

कहा जा सकता है कि इस बढ़ती जाने वाली संतान का निग्रह किस प्रकार करना चाहिए ? संतान का नियमन न किया जाय तो पिल्लों की तरह संतान बढ़ाते हुए चले जावें? इस प्रश्न के उत्तर में सबसे पहले हम यह कहना चाहते हैं कि विषयवासना को सदा के लिए ही शांत क्यों न कर दिया जाय ? काम-वासना में वृद्धि क्यों की जाय और स्त्री-प्रसंग क्यों किया जाय ? इस समस्या को हल करने के लिए भीष्म पितामह और भगवान अरिष्टनेमि का आदर्श सामने रखकर ब्रह्मचर्य का ही पालन क्यों न किया जाय ? ब्रह्मचर्य का पालन यदि पूर्ण रूप से किया जाय तो संतति-नियमन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होगी ।

किसी ने भीष्म से कहा—आपने विवाह न करके संसार को बहुत हानि पहुँचाई है । आपने ब्याह किया होता तो आपकी संतान भी आपकी ही तरह बलवान् होती और बलवान् संतान से संसार का बड़ा उपकार होता ।

भीष्म ने उत्तर दिया—बुद्धि भ्रष्ट होने से ही ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं । पहले तो यह कहना ही कठिन है कि विवाह करने से पुत्र होता ही ! संसार में अनेक लोग विवाहित होने पर भी पुत्र-हीन देखे जाते हैं । कदाचित् पुत्र होता भी तो क्या प्रमाण है कि वह मेरे जैसा ही वीर होता या नहीं ?

महात्मा भीष्म की यह आशंका निर्मूल नहीं है । आज भी ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते हैं जिनसे जान पड़ता है कि

पुत्र पिता के ही समान हो, ऐसा नियम नहीं है। शिवाजी एक गुफा में थे। उस समय एक सरदार एक सुंदरी को उनके पास पकड़ ले गया। पर गुफा से बाहर निकल कर शिवाजी ने पूछा- 'मेरी इस माता को क्यों पकड़ लाये हो ?' इस प्रकार शिवाजी पर-स्त्री को माता के समान समझते थे पर शिवाजी के पुत्र शंभाजी ने सुरा और सुन्दरी की सेवा में अपने जीवन की सफलता समझी। इस प्रकार हम अनेकों जगह देख सकते हैं कि पिता-पुत्र के स्वभाव एक-से हों; ऐसा कोई नियम नहीं है।

भीष्म ने कहा—यह कौन कह सकता है कि मेरा पुत्र मेरे समान ही होता या दुष्ट होता ? पर मैंने विवाह नहीं किया और ब्रह्मचर्य का पालन किया है तो आज सारा संसार मेरी संतान-रूप बन गया है।

भगवान् नेमिनाथ ने भी संसार के समक्ष ब्रह्मचर्य का आदर्श उपस्थित किया था। वह संतति-नियमन के उपाय भी जानते थे और बलिष्ट संतान उत्पन्न भी कर सकते थे; पर उन्होंने ब्रह्मचर्य को ही श्रेष्ठतर समझा और विवाह न करके ब्रह्मचर्य का आदर्श उपस्थित किया। इसी भाँति अगर तुम विवाह न करो और ब्रह्मचर्य का ही पालन करो तो क्या हानि है ? अगर तुम ब्रह्मचर्य का पालन करो तो फिर संतति-नियमन का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

कहा जा सकता है कि, हम भीष्म या भगवान् अरिष्टनेमि की तरह ब्रह्मचर्य पालने में समर्थ नहीं हैं। ऐसी अवस्था में संतान-वृद्धि को रोकने के लिए कोई उपाय भी करना होगा। हमारा सोचा हुआ उपाय यदि उचित नहीं है, तो आप कोई उपाय बताइए।

इसके लिए मैंने पहले आम का उदाहरण दिया है। उस पर विचार करो। जिस प्रकार आम का पेड़ बना रहे, उसके फल भी आवश्यकतानुसार ही आवें और वे फल सब के लिए लाभदायक हों, इस बात के लिए जो उपाय पहले सोचा गया था वैसा ही कोई उपाय संतान के लिए भी हो सकता है या नहीं ? इस प्रश्न पर गहरा विचार करो। अगर ऐसा कोई उपाय संभव है तो क्यों न उसका ही प्रयोग किया जाय ? और क्यों औषधियों द्वारा गर्भाशय को नष्ट करने की विडंबना की जाय ?

पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना संतति-निरोध का सर्वोत्तम उपाय है। यदि यह शक्य न हो तो जब तक स्त्री-पुरुष में अपनी संतान के पालन-पोषण की शक्ति न आवे तब तक ब्रह्मचर्य का नियमित रूप से पालन करना चाहिए; अथवा दो-चार संतान उत्पन्न हो जाने के पश्चात् संतोष धारण कर विषय-सेवन से निवृत्त हो ब्रह्मचर्य में प्रवृत्त होना चाहिए।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य का आश्रय लेने से संतति-नियमन की समस्या सहज ही सुलझ जाती है। फिर उसके लिये हानिकारक उपायों का अवलम्बन करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। संतति-नियमन के लिए ब्रह्मचर्य अमोघ उपाय है। पर विलासी लोग उसका उपयोग न करते हुए चाहते हैं कि न तो विषय-भोग का परित्याग करना पड़े और न संतान ही उत्पन्न होने पावे। और इस दुरभिसंधि की पूर्ति के लिए शस्त्र-प्रयोग आदि उपायोंसे जनन-शक्ति का ही नाश करने की तरकीबें खोजते हैं। पर स्मरण रखना, यदि ब्रह्मचर्य का पालन न करके कृत्रिम उपायों द्वारा संतति-नियमन किया जायगा तो इससे भविष्य में अपार और असीम

हानियाँ होंगी। ब्रह्मचर्य का पालन न करते हुए संतान को कृत्रिम साधनों द्वारा रोका जायगा और पानी की भाँति वीर्य का दुरुपयोग किया जायगा तो निर्बलता मानव-समाज को ग्रस लेगी और तब संतान की अपेक्षा मनुष्य स्वयं अपने लिए भार-रूप बन जायगा; ऐसा भार, जिसे सहारना कठिन हो जायगा।

विषय-भोग की कामना का नियंत्रण नहीं हो सकता—यह कामना अजेय है, इस प्रकार की दुर्भावना पुरुष-समाज में एक बार पैठ पायी, तो भयंकर अनर्थ होंगे और उन अनर्थों की परम्परा का सामना करना सहज नहीं होगा।

यद्यपि आजकल भी अनेक लोग हैं जिनकी यह भ्रान्त धारणा हो गई है कि मनुष्य काम-भोग की वासना पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता। संभवतः वे लोग मनुष्य को काम-वासना का कीड़ा समझते हैं। पर प्राचीन आर्य ऋषियों का अनुभव इस धारणा का विरोध करता है। कोई व्यक्ति-विषेश ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ रहे, यह एक बात है और यह कहना कि ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करना संभव नहीं है, यह दूसरी बात है किसी व्यक्ति की असमर्थता के आधार पर किसी व्यापक सिद्धान्त का निर्माण कर बैठना सचाई के साथ अन्याय करना है। इस प्रकार असमर्थता की ओट में विषय-भोगों का प्रचार करना सर्वथा अनुचित है। आज भी संसार में ऐसे व्यक्तियों का मिलना असंभव नहीं है जो बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जन-सेवा कर रहे हैं। फिर भीष्म और भगवान् नेमिनाथ जैसे पवित्र ब्रह्मचारियों का उच्च आदर्श जिन्हें मार्ग-प्रदर्शन कर रहा हो, उन भारतवासियों के हृदय में न मालूम कैसे यह भ्रम

घुस गया है कि—'विषय-वासना पर काबू करना शक्य नहीं है! साधु हुए बिना ब्रह्मचर्य का पालन हो ही नहीं सकता,और गृहस्थ-जीवन में ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान एकदम अशक्यानुष्ठान है !' वास्तव में यह धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण है। मनोबल दृढ़ होने पर पूर्ण या नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है। यही नहीं वरन् विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थ—जीवन में भी ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य पालने से किसी भी प्रकार की हानि की संभावना नहीं है। यही नहीं किन्तु अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। कहा भी है:—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः

—योगसूत्र।

अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करने से वीर्य का लाभ होता है—वीर्य (शक्ति) का संरक्षण होता है। नैस्टिक ब्रह्मचर्य का पालन करने से भी वीर्य का लाभ होता है और विवाह करके ब्रह्मचर्य पालने से भी वीर्य का लाभ होता है। इसके विपरीत, 'विषय-विकार को जीतना संभव नहीं है' इस भावना का पोषण करने से और इस दुर्भावना के कारण शस्त्र-प्रयोग आदि उपायों द्वारा संतति का निरोध करने से स्व की भी और पर की भी घोर हानि होने की संभावना है।

कुछ महानुभावों ने एक नये सिद्धान्त का आविष्कार किया है। उनकी अनोखी-सी समझ यह है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने से शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं। पर न तो आज तक यह सुना गया है कि ब्रह्मचर्य-पालन से किसी को किसी रोग का शिकार होना पड़ा है, और न ऐसा कोई उदाहरण ही देखा गया

है। हां, ठीक इससे उलटे, जो लोग विषयी होते हैं वे ही रोगों द्वारा सताये जाते हैं। यह बात तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है। अतएव अपने हृदय से इस भ्रान्ति को निकाल फैंको कि ब्रह्मचर्य से रोग पैदा होते हैं। ब्रह्मचर्य जीवन है, उससे शक्ति का लाभ होता है। जहाँ शक्ति है वहाँ रोगों का आक्रमण नहीं होता। अशक्त और दुर्बल मनुष्य ही रोगों से सताये जाते हैं।

कहने का आशय यह है कि संतति-नियमन के लिए ब्रह्मचर्य ही अमोघ उपाय है—वही प्रशस्त साधन है। इस अमोघ उपाय की उपेक्षा करके—उसका तिरस्कार करके कृत्रिम साधनों से संतति-नियमन करना और विषयभोग का व्यापार चालू रखना निसर्ग के नियमों का अतिक्रमण करना है। और नैसर्गिक नियमों का अतिक्रमण करके कोई भी व्यक्ति और कोई भी समाज सुखी नहीं हो सकता। यदि संतति-नियमन का उद्देश्य विषय-भोग का सेवन नहीं है, किन्तु आर्थिक और शारीरिक निर्बलता के कारण ही संतति-नियमन की आवश्यकता का प्रतिपादन किया जाता है, तो भी ब्रह्मचर्य ही एक मात्र अमोघ उपाय है।

कोई यह कह सकता है कि संतति-नियमन के लिए ब्रह्मचर्य उत्तम उपाय तो है, पर विषय-भोग की इच्छा को रोक सकना शक्य नहीं है। ऐसी लाचारी की हालत में ब्रह्मचर्य का उपाय किस प्रकार काम में लाया जाय ?

किसी उपवास-चिकित्सक के पास कोई रोगी जाय और चिकित्सक से कहे कि अपने रोग का निवारण करना चाहता और उपवास-चिकित्सा-पद्धति को अच्छा भी मानता हूँ, पर उपवास करने में असमर्थ हूँ ! तो चिकित्सक उस रोगी को क्या

उत्तर देगा ? निस्सन्देह वह यही कह सकता है कि अगर आप उपवास नहीं कर सकते तो आपके रोग की औषधि इस चिकित्सालय में नहीं है ! इसी प्रकार जब तुम विषय-भोग की इच्छा को जीत नहीं सकते, तो ब्रह्मचर्य के सिवाय और क्या इलाज है ? तुम ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करना चाहते और विषय-भोग की प्रवृत्ति चालू रखकर संतति का नियमन करना चाहते हो तो, इसका अर्थ यही है कि तुम संतति-नियमन के सच्चे उपाय को काम में नहीं लाना चाहते, बल्कि विषय-वासना की पूर्ति में तुम्हें संतान बाधक जान पड़ती है, इसलिए उसका निरोध करना चाहते हो।

खेद है कि लोगों के मन में यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि विषय-भोग की इच्छा का दमन करना असम्भव है। परन्तु जैसे नैपोलियन ने असम्भव शब्द को कोश में से निकाल डालने को कहा था, उसी प्रकार तुम अपने हृदय में से काम-भोग की इच्छा का दमन करने की असम्भवता को निकाल बाहर करो। ऐसा करने से तुम्हारा मनोबल सुदृढ़ बनेगा और तब विषय-भोग की कामना पर विजय प्राप्त करना तनिक भी कठिन न होगा।

हनुमान की कथा

मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करके उत्पन्न की हुई संतान कितनी बलिष्ठ होती है, इस बात को समझने के लिए हनुमान की कथा पर विचार करो। हनुमान हमें बल देंगे, इस भावना से लोग उनकी पूजा करते हैं, पर हनुमान की मूर्ति पर तेल या सिंदूर पोत देने से ही क्या बल की प्राप्ति हो सकती है? हनुमान को जिस बल की प्राप्ति हुई थी वह ब्रह्मचर्य के ही प्रताप से हुई थी।

वे शील के ही पुत्र थे। पवन, महासुंदरी अंजना का पाणिग्रहण करके उन्हें अपने घर लाये। फिर अंजना के प्रति उनके हृदय में किञ्चित् संदेह उत्पन्न हो गया और इस कारण उन्होंने अंजना का परित्याग कर दिया। उन्होंने इस अवस्था में अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण रक्खा। अंजना ने यह समझ लिया था कि पतिदेव को मेरे विषय में शंका उत्पन्न हो गई है और इसी कारण वे अपने ऊपर पूर्ण अंकुश रखते हुए मुझसे अलग-अलग रहते हैं। यह समझ कर अंजना ने भी अपने मन को वशीभूत करने का निश्चय कर लिया।

अंजना की दासी ने एक बार अंजना से कहा—पवनजी तुम्हारे लिए पति नहीं, प्रत्युत पापी हैं। वह जो पति होते तो क्या इस तरह अपनी पत्नी का परित्याग कर देते ?

अंजना ने उत्तर दिया—दासी ! जीभ सँभाल कर बोल। मेरे पति की निन्दा मत कर। वे सच्चे धर्मात्मा हैं। वे राजपुत्र हैं—चाहें तो अनेक कन्याओं का पाणिग्रहण कर सकते हैं। पर नहीं, मेरी खातिर वे अपने मन पर संयम रख रहे हैं। मेरे किसी पूर्व-कृत पाप के कारण उन्हें मेरे विषय में संदेह उत्पन्न हो गया है। जब मेरा पाप दूर हो जायगा तो मेरे पति का संदेह दूर हो जायगा और तब वे फिर मुझे पहले की तरह चाहने लगेंगे।

एक दिन वह था जब स्त्रियाँ अपने पति का प्रेम संपादन करने के लिए आत्म-समर्पण करती थीं और आज वह दिन है कि पुनर्विवाह करने के लिये स्त्रियों को भरसक उत्तेजित किया जाता है। उनके हृदय में काम-वासना की आग भड़काई जाती

है। पुरुष स्वयं काम-वासना के गुलाम बन रहे हैं और इसी कारण आज विधवा-विवाह या पुनर्विवाह का प्रश्न खड़ा हो गया है। अगर विधवाओं की भाँति पुरुष भी पत्नी की मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मचर्य का पालन करें और त्यागमय जीवन व्यतीत करें तो सहज ही यह प्रश्न हल हो सकता है। किन्तु स्त्री की मृत्यु के बाद पुरुष ऊपर से रोने का ढोंग भले ही करते हों पर नई स्त्री के आने के विचार से हृदय में प्रसन्न होते हैं।

जैसे स्त्रियों के लिए अंजना का आदर्श है, इसी प्रकार पुरुषों के लिए पवनकुमार का आदर्श है। पवनकुमार और अंजना—दोनों ने बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन किया था। जैसे अंजना बारह वर्ष तक ब्रह्मचारिणी रही, उसी प्रकार पवनकुमार भी बारह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। वह राजकुमार थे। चाहते तो एक छोड़ दस विवाह कर लेते अथवा आजकल की तरह दुर्व्यवहार भी कर सकते थे। पर उन्होंने यह नहीं किया। उन्होंने सोचा जब मैं अपनी पत्नी को पतिव्रता देखना चाहता हूँ तो मैं स्वयं दुराचार करके क्यों भ्रष्ट होऊँ—मैं भी क्यों न पत्नीव्रती बनूँ ? मैं यह अनर्थ कैसे कर सकता हूँ ?

आज का पुरुष-वर्ग स्त्रियों की टीका करने में कमी नहीं रखता पर खुद कैसी-कैसी करतूतें कर रहा है, इस ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। पुरुष समझता है, मुझे सब कुछ करने का अधिकार है, क्योंकि मैं पुरुष हूँ ! पर यह एक पक्षीय बात है। अतएव मैं यह कहता हूँ कि स्त्री और पुरुष दोनों को ही शील का पालन करना चाहिए। शास्त्र में पुरुष के लिए स्वदार-संतोष

और स्त्री के लिए स्वपति-संतोष व्रत बताया गया है। यदि पुरुष स्वदार-संतोष का पालन करें तो स्त्रियाँ स्वपति-संतोष व्रत का पालन क्यों न करेंगी? पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन न हो सके तो भी यदि इस आंशिक व्रत का पालन किया जाय और स्त्री-पुरुष संतोष-पूर्वक मर्यादित जीवन व्यतीत करें तो संतति-नियमन का प्रश्न सहज ही हल हो सकता है।

बारह वर्ष बाद युद्ध में जाते हुए पवनकुमार ने जंगल में पड़ाव डाला। वहीं पास में किसी पेड़ के नीचे एक चकवी रो रही थी। पवनकुमार ने अपने मित्र प्रहस्त से उस चकवी के रोने का कारण पूछा। प्रहस्त ने कहा—रात में चकवा-चकवी का वियोग हो जाता है और इसी वियोग की वेदना से व्याकुल होकर यह चकवी रो रही है।

पवनकुमार ने प्रहस्त से कहा—जब यह चकवी केवल एक रात के वियोग से कल्पांत मचा रही है, तो मेरी पत्नी के दुःख का क्या ठिकाना होगा जिसे मैंने बारह वर्ष से त्याग रक्खा है। मुझे उसके विषय में संदेह उत्पन्न हो गया था और इसी कारण मैंने उसका त्याग कर दिया है।

प्रहस्त ने पवन से पूछा— अपनी पत्नी के प्रति आपको क्या संदेह हो गया था? इस विषय में आपने आज तक मुझसे कुछ भी जिक्र नहीं किया। जिक्र किया होता तो मैं आपके संदेह का निवारण कर देता।

पवनकुमार ने अपना संदेह प्रहस्त को बता दिया। प्रहस्त ने कहा—वह सती है। उस पर आपका यह संदेह अनुचित है।

आपका संदेह सच्चा होता तो वह इतने दिनों तक घर में न बैठी रहती; वह कभी की मायके चली गई होती ! आपने जिसे दूषण समझा और जिसके कारण आपको संदेह हो गया है, वह दूषण नहीं, भूषण है—गुण है ।

पवनकुमार सारी बात समझ गये । उनका संदेह काफूर हो गया । उन्होंने प्रहस्त से कहा—मैंने एक सती-साध्वी स्त्री को बहुत कष्ट पहुँचाया है । इस समय मैं समरांगण में जा रहा हूँ और कदाचित् मैं युद्ध में मारा गया तो यह दुःख कांटे की तरह मुझे सदा ही सालता रहेगा । क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है कि मैं रात भर उसके पास रह कर वापस लौट सकूं ? प्रहस्त ने कहा—है क्यों नहीं, मैं ऐसी विद्या जानता हूँ ।

आज एरोप्लेन—वायुयान हैं, पर पहले आकाश में उड़ने की विद्या भी थी । इस विद्या के बल से प्रहस्त के साथ पवन-कुमार अंजना के निवास-स्थान पर आए । जिस समय पवनकुमार अंजना के पास पहुँच रहे थे, उस समय अंजना की एक दासी उससे कह रही थी—जिसे तुम अपना सुहाग समझती हो, तुम्हारे उस पति ने तुम्हारा शकुन न लेकर तुम्हारा अपमान किया है । वास्तव में तुम्हारा पति अत्यन्त क्रूर है । मैं तो सोचती हूँ—वह युद्ध में अवश्य मारा जायगा ।

अंजना और उसकी दासी के वार्तालाप से सहज ही यह समझा जा सकेगा कि वास्तव में दासी और रानी में कितना अंतर होता है ! दासी के कथन के उत्तर में अंजना ने कहा—खबरदार, जो ऐसी बात मुँह से निकाली ! युद्ध में मेरे स्वामी अवश्य

विजय-लाभ करेंगे । मेरी भावना तो निरन्तर यही रहती है
उन्हें शीघ्र ही विजय प्राप्त हो ।

दासी—जिसने तुम्हारा घोर अपमान किया है उसी की तु
विजय चाहती हो ! कैसी भोली हो मालकिन ।

अंजना—मेरे पतिदेव के हृदय में मेरे विषय में संदेह उत्पन्न
हुआ है । वे मुझे दुराचारिणी समझते हैं और इसी कारण युद्ध
को जाते समय उन्होंने मेरा शकुन नहीं लिया है । मेरे पति महा
पुरुष और वीर हैं । उन्होंने अपने पिताजी को युद्ध में नहीं जा
दिया और आप स्वयं युद्ध में सम्मिलित होने गये हैं । वे ऐसे
शूरवीर हैं और बारह वर्ष से ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं
ऐसे सच्चरित्र और वीर पुरुष की जीत नहीं होगी, तो किसकी
होगी ?

इस प्रकार अंजना और उसकी दासी में चल रही बातचीत
पवनकुमार ने शान्त चित्त से सुनी । पवनकुमार, अंजना की
अपने प्रति प्रगाढ़ निष्ठा देखकर गद्‌गद् हो गये । प्रहस्त से
उन्होंने कहा—मित्र ! मैंने इस सती के प्रति अक्षम्य अपराध
किया है । अब किस प्रकार इसे अपना मुँह दिखाऊँ ?

प्रहस्त ने कहा—थोड़ी देर और धैर्य धारण कीजिए।
इतना कहकर प्रहस्त ने अंजना के मकान की खिड़की खड़खड़ाई।
खिड़की की खड़खड़ाहट सुनकर अंजना गरज उठी—कौन
दुष्ट है जो कुमार को बाहर गया देखकर इस समय आया है ?
जो भी कोई हो, फौरन यहाँ से भाग जाय; अन्यथा उसे प्राणों
से हाथ धोना पड़ेगा ।

प्रहस्त ने उत्तर दिया—और कोई नहीं है। दूसरे किसकी हिम्मत है जो यहाँ आने का विचार भी कर सके। यह पवन-कुमारजी हैं और इनके साथ मैं इनका मित्र प्रहस्त हूँ। यह शब्द सुनते ही अंजना के अंग-अंग में मानो विजली दौड़ गई। उसकी प्रसन्नता का पारावार न रहा। पर जब तक उसे खातिरी न हो गई, उसने किवाड़ न खोले। जब उसने खिड़की में से देखकर यकीन कर लिया, तभी दरवाजा खोला।

अंजना ने अर्घ लेकर अपने प्राण-पति पवनकुमार की आरती उतारी और फिर कुछ-कुछ लजाते हुए, सकुचते हुए विनम्र वाणी से कहने लगी—'क्षमा करना नाथ, मैंने आपको बहुत कष्ट पहुँचाया है!'

कष्ट किसने किसे पहुँचाया था? पवनकुमार ने अंजना को अथवा अंजना ने पवनकुमार को? वास्तव में तो पवनकुमार ने ही अंजना को कष्ट दिया था। फिर भी अंजना ने इस तरह की शिकायत न करते हुए उल्टा यही कहा कि—'मैंने आपको बहुत कष्ट दिया है! मेरे कारण ही आपने एक-निष्ठता के साथ बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य पाला है। इस कष्ट के लिए मुझे क्षमा दीजिए। आपका संदेह दूर हो गया है, यह जानकर आज मुझे असीम आनन्द की अनुभूति हो रही है।'

पवनकुमार ने मन ही मन लजाते हुए कहा—'सती! क्षमा-दान दो। अनजान में मैंने तुम सरीखी परम सती महिला को मिथ्या कलंक लगाया है। मेरे इस घोर अपराध को क्षमा करो।'

अन्त में दोनों का संसार-संबंध हुआ। दोनों ने बारह वर्ष

तक ब्रह्मचर्य पाला था, अतएव पवनकुमार के वीर्य से हनुमान जैसे बली बालक का जन्म हुआ।

आशय यह है कि ब्रह्मचर्यपूर्वक मर्यादित जीवन व्यतीत करने से संतान भी बलवान् होती है। अतएव संतति-नियमन के संबंध में पवनकुमार का आदर्श सामने रखना चाहिए।

तुम कदाचित् भीष्म और भगवान् अरिष्टनेमि की तरह पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं रह सकते, तो पवनकुमार की भाँति ब्रह्मचर्यपूर्वक मर्यादित जीवन तो अवश्य बिता सकते हो। पर काम-वासना पर काबू नहीं रक्खा जा सकता, इस भ्रमपूर्ण भावना का परित्याग करो। इस दुर्भावना के कारण ही विषय-वासना वेगवती बनती है।

मेरे सम्पूर्ण कथन का सारांश यही है कि इस समय संतति-नियमन की आवश्यकता तो है, पर आजकल उसके लिए शस्त्र-क्रिया या औषध का जो उपाय बताया जाता है, वह सच्चा हित-कर उपाय नहीं है। यह उपाय प्रत्येक दृष्टि से लाभ के बदले हानि ही पहुँचाएगा। अतएव हानिकारक उपायों का उपयोग न करके संतति-नियमन के लिए ब्रह्मचर्य का अमोघ और कल्याण-कारी उपाय काम में लाना चाहिए। ब्रह्मचर्य के अवलंबन से संतति का नियमन होगा और जो संतान होगी, वह स्वस्थ, सबल और सम्पन्न होगी। साथ ही तुम भी शक्तिशाली और चिरजीवी बन सकोगे।

संतति-नियमन करके द्रव्य के अपव्यय या अधिक व्यय से बचना चाहते हो—द्रव्य तुम्हें प्यारा है, तो असली धन—जीवन के मूल और शक्ति के स्रोत वीर्य—के अपव्यय से भी बचने का

प्रयास करो। द्रव्य-धन की अपेक्षा वीर्य-धन का मूल्य कहीं अधिक है—बहुत अधिक है। फिर इस ओर दृष्टि-निपात क्यों नहीं करते ?

शस्त्र-क्रिया या औषध के प्रयोग द्वारा संतति-नियमन करने से अपनी हानि के साथ-साथ परंपरा से दूसरों की भी हानि होगी। इसके अतिरिक्त आजकल तो स्त्री-पुरुष की समानता का प्रश्न भी उपस्थित हो गया है। ऐसी दशा में, संभव है स्त्रियों की ओर से यह प्रश्न खड़ा कर दिया जाय कि संतति-नियमन के लिए हमारे गर्भाशय का ही ऑपरेशन क्यों किया जाय ? क्यों न पुरुषों को ही ऐसा बना दिया जाय जिससे संतान की उत्पत्ति ही न हो सके ! पुरुषों की उत्पादक शक्ति का ही विनाश क्यों न कर दिया जाय ?

संतति-नियमन के जिन कृत्रिम उपायों के कारण भविष्य में ऐसी भयानक स्थिति उत्पन्न होने की संभावना है, उन उपायों का प्रयोग न करना ही विवेकशीलता है। कदाचित् सरकार संतति-नियमन के लिए ऐसे कृत्रिम उपायों को काम में लाने के लिए कानून बना दे, तो सरकार के उस काले कानून को मानना या न मानना, तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। अगर तुम्हें भी संतति-नियमन के कृत्रिम उपाय अनुचित और हानिजनक जान पड़ते हों, तो इन उपायों का परित्याग करो और संतति-नियमन के लिए अमोघ उपाय ब्रह्मचर्य का प्रयोग करो। इसी में तुम्हारा, समाज का, देश का और अन्ततः विश्व का कल्याण है।

एवमस्तु !

मानव-धर्म

प्रार्थना

चेतन ! जान कल्याण करन को, आन मिलो अवसर रे ।
शास्त्र-प्रमान पिछान प्रभू गुन, मन चंचल थिर कर रे ॥
श्रेयांस जिनंद सुमर रे ॥ १ ॥

श्री श्रेयांसनाथ भगवान की यह प्रार्थना की गई है। आत्मा को परमात्मा की प्रार्थना क्यों करनी चाहिए ? इस संबंध में मैं यथाशक्ति थोड़ा-बहुत कहता ही रहता हूँ। आज यद्यपि मुझे 'मानव-धर्म' विषय पर बोलना है, किन्तु प्रार्थना मेरी आत्मा का विषय है और प्रार्थना करना भी मानव-धर्म है, इसलिए इस विषय में आज भी कुछ कह रहा हूँ।

'हे आत्मा ! उठ, जाग और परमात्मा का स्मरण कर' यह प्रेरणा इस प्रार्थना में की गई है। इस पर यह प्रश्न उठता है कि परमात्मा की प्रार्थना किसलिए करनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर एक साधारण उदाहरण द्वारा दिया जा सकता है।

एक बालक गन्ने का टुकड़ा लेकर चूस रहा है और दूसरा बालक शक्कर की डली चूस रहा है। दूसरे बालक ने पहले को शक्कर की डली दिखला कर कहा—देख कैसी मीठी है यह शक्कर! तब पहले बालक ने उत्तर दिया—यह शक्कर आई कहां से है? इसी गन्ने से तो शक्कर निकली है। मेरे इस गन्ने में तो शक्कर ही शक्कर भरी है।

'गन्ने में शक्कर भरी है' ऐसा कहने वाला बालक क्या असत्य बोलता है? उसका कहना यदि सत्य है, तो गन्ने में से परिश्रम करके शक्कर निकालने का प्रयत्न करना क्या वृथा है? नहीं, प्रयत्न भी वृथा नहीं है और गन्ने में शक्कर भरी है, यह कहना भी असत्य नहीं है। क्योंकि गन्ने में शक्कर होती है; तभी प्रयत्न करने से वह निकल सकती है। शक्कर में निखालिस शुद्ध मिठास होती है, जब कि गन्ने में मिठास के साथ ही अन्य वस्तुएँ मिली रहती हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है।

इसी प्रकार प्रार्थना कहीं बाहर से नहीं आती। जिस प्रकार गन्ने में शक्कर व्याप्त है उसी प्रकार आत्मा में परमात्मा की प्रार्थना व्याप्त है। यह बात दूसरी है कि जैसे गन्ने में व्याप्त शक्कर के साथ अन्य पदार्थ मिले रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा में व्याप्त प्रार्थना भी अन्य वस्तुओं में मिली हो। मगर जैसे क्रिया द्वारा गन्ने में से शक्कर निकाली जा सकती है उसी प्रकार प्रयत्न द्वारा आत्मा में व्याप्त प्रार्थना भी बाहर निकाली जा सकती है। आत्मा में व्याप्त उस प्रार्थना को महात्मा पुरुषों ने कड़ियों के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। किन्तु प्रार्थना की वह कड़ियाँ भी आत्मा में से ही बाहर निकलती हैं।

प्रार्थना का प्रादुर्भाव आत्मा में से ही हुआ है और आत्मा में, गन्ने में शक्कर की तरह, प्रार्थना परिव्याप्त है, ऐसा समझ कर अनन्य भाव से यदि परमात्मा की प्रार्थना की जाय, तो उस प्रार्थना से बहुतेरे लाभ होते हैं। यहाँ तक कि ऐसी प्रार्थना के द्वारा आत्मा अपना परम और चरम कल्याण भी साध सकती है। हम क्या करें ? हम से क्या हो सकता है ? इस प्रकार निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि निराश हो जाओगे तो कुछ भी न बन पड़ेगा।

जिन महात्माओं ने अपने अन्तरात्मा में से प्रार्थना की कड़ियाँ निकाली हैं वही प्रार्थना करने के अधिकारी हैं। हम क्या कर सकते हैं ? ऐसा सोच कर, निराश होकर बैठ जाओगे तो वास्तव में ही तुमसे कुछ भी नहीं हो सकेगा। साहस और प्रयत्न करने से जैसे गन्ने में से शक्कर निकाली जा सकती है, और कदाचित् ऐसा न हो सका तो भी गन्ने का रस चूस कर उसके माधुर्य का आस्वादन किया जा सकता है; इसी प्रकार तुम भी प्रार्थना के अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति कर सकते हो। तुम प्रार्थना की कड़ियाँ न बना सको तो भी जिस महात्मा ने प्रार्थना की कड़ियाँ बनाई हैं, उन कड़ियों को हृदय में धारण कर प्रार्थना करने से आत्मिक आनन्द का अनुभव किया जा सकता है। पर जो भी कुछ होगा, वह सब प्रयत्न करने से ही हो सकेगा। प्रयत्न के बिना कुछ भी होना संभव नहीं है।

कोई मनुष्य गन्ने का टुकड़ा हाथ में लेकर ही बैठा रहे तो वह गन्ने की मिठास का अनुभव नहीं कर सकता। पर यदि वह

प्रयत्न करे तो गन्ने में से शक्कर निकाल सकता है, और नहीं तो कम से कम उसे चूस कर उसका मीठा स्वाद तो चख ही सकता है। अतएव प्रार्थना करके आत्मिक आनन्द प्राप्त करना न भूलो। कहावत है—याद से आबाद और भूल से बर्बाद। अर्थात् परमात्मा का स्मरण करने से आबादी और उसे विस्मरण करने से बर्बादी होती है। ऐसा समझकर परमात्मा की प्रार्थना करो तो कल्याण होगा।

मानव-धर्म

युवकों की ओर से मुझे यह सूचना मिली है कि आज मानव-धर्म के विषय में भाषण करूँ। यों तो मैं हमेशा जो व्याख्यान देता हूँ वह मानव-धर्म के विषय में ही होता है, पर आज केवल एक ही विषय पर बोलना है। इस विषय में मैं ठीक-ठीक कह सकूंगा या नहीं, यह निर्णय तो श्रोता ही करेंगे, पर यह निश्चित है कि हम किराये के मजदूर नहीं हैं, जो केवल व्याख्यान फटकार कर ही छुट्टी पा लेवें। हमारे भाषण को अथवा हमारे द्वारा प्रदर्शित मानव-धर्म को कोई दूसरा माने या न माने, पर हम जो कुछ कहते हैं, उसे हम अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी पालन करें।

मानव-धर्म के विषय में बोलने से पहले यह देखना चाहिये कि मनुष्य का अर्थ क्या है ? जिसके आँख-कान-नाक हो और जिसकी आकृति हम जैसी हो, क्या वही मनुष्य है ? ऐसी आकृति तो जानवर की भी हो सकती है, तो क्या उसे भी मनुष्य कहा जा सकता है ? क्या बन्दर की आकृति मनुष्य से मिलती-

जुलती नहीं होती ? उसके सिर्फ पूंछ अधिक होती है (और किसी-किसी वन्दर के वह भी नहीं होती), तो क्या इतने मात्र से उसे मनुष्य कह सकते हैं ? कितने-क जल-जन्तु भी मनुष्य की-सी आकृति के होते हैं, पर उन्हें भी मनुष्य नहीं कहा जा सकता। इसलिये कान-आँख-नाक-जीभ तथा आकृति आदि कारण से किसी को मनुष्य नहीं कहा जा सकता। संस्कृत भाषा में मानव शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है:—

मनुते इति मनुः, तस्यायं मानवः।

मन् धातु से मनु शब्द निष्पन्न हुआ है और मनु की जो सन्तान हो उसे मानव कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जिसमें धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, आदि को समझने का विवेक हो, वह मनु है और उसकी संतान मानव अर्थात् ज्ञानवान् की सन्तान मानव कहलाती है। कहने का आशय यह है कि तुम्हीं स्वयं ज्ञानवान् नहीं हो पर तुम जिनकी सन्तान हो वह तुम्हारे पूर्वज भी ज्ञान-वान् थे। भगवान ऋषभदेव की सन्तानों में मनु नामक कुल-गुरु भी थे। इन मनु की सन्तान मानव कहलाती है। अथवा मनुस्मृति के कर्त्ता भी मनु कहलाते हैं, उनकी सन्तान भी मानव कहलाती है। मुसलमान भी आदम को मानते हैं और आदम की सन्तानों को इन्सान कहते हैं। इस प्रकार अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार मानव की व्याख्या की जाती है। सब व्याख्याओं का सार यही है कि ज्ञानवान् की संतान ही मानव कहलाती है। इस प्रकार तुम ज्ञानवानों की सन्तान हो और इस कारण अपने पूर्वजों को भूल न जाओ। वंश-परम्परा से चले आये हुए संस्कारों की बदौलत ही आज तुम्हारी हस्ती है।

वेदान्त और उपनिषद् में मानव का खूब महत्त्व बतलाया गया है। वहाँ मनुष्य का अग्नि के रूप में वर्णन किया गया है। हम जिसे अन्न और पानी कहते हैं, वह अन्न और पानी भी मनुष्य के पेट में पहुँच कर भस्म हो जाता है, इस कारण मनुष्य को अग्नि कहा गया है। पेट में पहुँच कर अन्न-पानी किस प्रकार भस्म हो जाता है और रस-भाग एवं खल-भाग किस प्रकार अलग-अलग हो जाता है, यह विषय बहुत लम्बा है। अतएव इस सम्बन्ध में इतना ही कहना चाहता हूँ कि मनुष्य के पेट में अन्न-पानी भी भस्म हो जाता है। इसी कारण वेदान्त और उपनिषद् में मनुष्य का अग्नि-रूप में वर्णन किया गया है। डाक्टर भी किसी रोगी मनुष्य की अग्नि की पहले परीक्षा करता है। मनुष्य एक जीवित और चलती-फिरती आग है। इस आग में जो कुछ भी प्रक्षेप किया जाता है वह बेकार नहीं जाता, किन्तु आकृति के रूप में पलट जाता है। अन्न-पानी से वीर्य बनता है और वीर्य से बाद में उसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न होती है। ऐसी यह परम्परा है। परन्तु इस परम्परा में, यह ध्यान रखना चाहिए कि अन्न-जल जैसा होगा, वीर्य वैसा ही बनेगा और जैसा वीर्य होगा, वैसी ही सन्तान उत्पन्न होगी। अतएव जो अपने धर्म, कर्म, अपनी परम्परा और अपनी भावी सन्तान का ध्यान रखता है वही मनुष्य कहलाता है।

इस कथन से एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस दृष्टि से तो विद्वान्-मूर्ख, बालक-वृद्ध, गँवार और नागरिक, सभी मनुष्य कहलाने लगेंगे? इस प्रश्न का समाधान करते हुए ज्ञानी-जन कहते हैं कि जिनमें मानव-धर्म पाया जाए उन्हें ही मानव कहा

जा सकता है। जिनमें मानव-धर्म नहीं है, वे परम्परा के अनुसार मानव-कुल में भले ही उत्पन्न हुए हों, फिर भी वे मानव नहीं हैं। एक कवि ने कहा है—

दीसत के नर दीसत हैं, पर लक्षण तो पशु के सब ही हैं,
पीवत-खावत ऊठत-बैठत, वा घर वो वनवास यहीं हैं।
सांझ पड़े रजनी फिर आवत, सुन्दर यों फिर भार वही है,
और तो लक्षण आन मिले सब, एक कमी सिर सींग नहीं है।

जिनमें मानव-धर्म नहीं है, उन्हें सभी ने बिना-सींग-पूंछ का पशु कहा है। ज्ञानियों का कथन है कि जिनमें केवल द्रव्य-मानवता है और भाव-मानवता नहीं है अर्थात् मानव-धर्म नहीं पाया जाता, वह 'मानव' नहीं है। आकृति आदि के कारण उसे द्रव्य-मानव तो कहा जा सकता है, किन्तु उसमें भाव-मानवता न होने से भाव की अपेक्षा मानव नहीं कहा जा सकता। जो केवल द्रव्य को ही देखता है, द्रव्य में ही रहता है, जो भाव को नहीं देखता उसमें मानवता भी नहीं रह सकती। जिस सोने में सोने का धर्म न हो, उसे कौन सोना कहेगा? कौन उसे सोने के भाव में खरीदेगा? इसी प्रकार जिसमें मानव-धर्म नहीं है—मानवता नहीं है, उसे मानव कौन कहेगा? इसीलिए ज्ञानियों का कथन है कि केवल द्रव्य-मानवता में रहकर मानव-धर्म की उपेक्षा न करो!

आज कुछ लोगों को धर्म अनावश्यक एवं भार-रूप प्रतीत होने लगा है। किन्तु यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि उन्होंने धर्म के ठीक-ठीक स्वरूप को समझा नहीं है। वास्तव में धर्म के बिना जीवन भी नहीं टिक सकता। आज के युवक सुधार करना

चाहते हैं, पर धर्म की सहायता के विना सुधार होना, संभव नहीं है। प्रत्येक क्षेत्र में धर्म की आवश्यकता है।

आज धर्म को भार-रूप मानने का एक कारण यह भी है कि लोग धर्म का फल, रुपये की भाँति तत्काल और प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं। वह यह दलील देते हैं कि धर्म का फल यदि परलोक में मिलता है तो उससे हमें क्या लाभ ? यहाँ जैसे एक रुपये का सवा रुपया किया जा सकता है और उससे आनन्दोपभोग किया जा सकता है, इसी प्रकार का लाभ यदि धर्म से भी मिले तो उसे लाभ कहना चाहिए, अन्यथा वह निरा भार ही है। इस प्रकार लोग धर्म को भारस्वरूप समझते हैं किन्तु यह विचारने का कष्ट नहीं उठाते कि जीवन में धर्म का उपक्रम किये विना तो मनुष्य का जीवन ही संस्कारहीन बन जायगा ! किसी मनुष्य से शरीर पर कपास लपेटने के लिए कहा जाय तो वह इसे स्वीकार नहीं करेगा; किन्तु उसी कपास का संस्कार—उपक्रम कर दिया जाय अर्थात कपास से रुई ओट कर, सूत बना कर, कपड़ा बना दिया जाय और उसे सुन्दर रूप में सिला दिया जाय तो वही कपास शरीर पर धारण किया जा सकता है। इसी प्रकार बालक का जन्म होने पर यदि उसमें संस्कार—उपक्रम न किया जाय तो उसका जीवन कच्चे कपास की तरह असंस्कारी ही बना रहेगा। ज्ञानी जन कहते हैं कि राग के समान कोई जुल्मी नहीं है। कितनेक लोग, माता-पिता कहला कर फूले नहीं समाते, किन्तु राग के वश होकर अपने बालकों को, ऐसे संस्कारहीन रहने देते हैं कि आगे चलकर वेही बालक भार-रूप जान पड़ने लगते हैं। कच्चे कपास की तो थोड़ी-बहुत कीमत भी उपजती है,

किन्तु संस्कारहीन संतान को तो संसार में कोई टके सेर भी नहीं पूछता ! इस प्रकार धर्म का उपक्रम किये विना जीवन का सुधार नहीं हो सकता। धर्म मानव-जीवन का संस्कर्त्ता है।

अनुयोगद्वार सूत्र में उपक्रम के—नाम उपक्रम, स्थापना उपक्रम, द्रव्य उपक्रम, क्षेत्र उपक्रम, काल उपक्रम और भाव उपक्रम, यह छे भेद बताये गये हैं। इन सब उपक्रमों के वर्णन करने का इस समय अवकाश नहीं है, अतएव जिस उपक्रम के साथ विषय का संबंध है उसी का यहाँ वर्णन करना उचित होगा भूत और भविष्य को छोड़कर जो वर्त्तमान में वर्त्त रहा है उसका उपक्रम करना द्रव्य उपक्रम कहलाता है। द्रव्य उपक्रम के दो भेद हैं:—(१) सचित्त द्रव्य उपक्रम और (२) अचित्त द्रव्य उपक्रम। सचित्त द्रव्य-उपक्रम के द्विपद, चतुष्पद और अपद यह तीन भेद हैं। द्विपद में मनुष्य, चतुष्पद में पशु और अपद में वृक्षों का समावेश होता है। इन सब का उपक्रम होता है इस उपक्रम के वस्तु-विनाश और परिक्रम, इस प्रकार दो भेद हैं वस्तु को भ्रष्ट करना वस्तु-विनाश उपक्रम है और वस्तु का विभिन्न प्रकार से विकास करना परिक्रम कहलाता है। मनुष्य का शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास करना परिक्रम है। जैसे मिट्टी में वासन बनने की शक्ति है, किन्तु कुम्हार यदि क्रिया द्वारा उस शक्ति की अभिव्यक्ति न करे और मिट्टी के वर्तन न बनावे तो शक्ति विद्यमान होने पर भी मिट्टी में से वर्तन नहीं बन सकता अर्थात् मिट्टी का उपक्रम न बन सकेगा। और उपक्रम न होने के कारण मिट्टी के ढेले में खिचड़ी नहीं पकायी जा सकती जब मिट्टी का परिक्रम होगा—मिट्टी में से हँड़ियाँ बनाई जायगी—

तभी उससे खिचड़ी पकायी जा सकेगी। हाँडी यद्यपि मिट्टी में से ही बनी है पर कुम्हार के प्रयत्न के बिना नहीं बनी है। मनुष्य का शरीर भी मिट्टी के समान है और यदि उसका परिक्रम किया जाय तो उसमें भी शक्ति का ऐसा विकास हो सकता है कि देखने वाले चकित रह जाएँगे।

कहने का आशय यह है कि केवल आकृति या इन्द्रियों के कारण ही कोई मनुष्य नहीं हो सकता। जिसमें मानव धर्म हो और उस मानव-धर्म का परिक्रम किया जाय, वही मानव कहला सकता है। 'परिक्रम' शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। साधारणतया परिक्रम को विकास या अनुशीलन कहा जाता है। जिसका परिक्रम किया गया हो वह प्रत्येक कार्य को बड़ी सरलता से संपादन कर लेता है। यह बात दूसरी है कि जिसका परिक्रम जिस ओर हुआ हो वह उसी काम को अधिक सरलता से कर सकता है। पर कोई भी कार्य क्यों न हो, उसे वही कर सकेगा जिसका परिक्रम उस ओर हुआ हो। मान लीजिए आप पढ़े-लिखे हैं। आपको बहुत-से पत्र लिखने हैं। तो आप थोड़ी-सी देर में सब पत्र लिख डालेंगे और उसमें विशेष कठिनाई का अनुभव न करेंगे। पर जो लोग पढ़े-लिखे नहीं हैं उनसे एक अक्षर लिखने को कहा जाय तो उनके लिए घोर संकट का काम होगा। वे लिख नहीं सकेंगे। इसका कारण क्या है? यही कि आपका लिखने में परिक्रम हुआ है और उनका इस विषय में परिक्रम नहीं हुआ है। आज पढ़े-लिखों की संख्या बढ़ गई है अतएव इस परिक्रम का अधिक महत्त्व नहीं रह गया है, अन्यथा यह भी आश्चर्य-चकित कर देने वाला परिक्रम है। धर्म, मर्म, कर्म इत्यादि

शब्दों के लिखने में लेखक को इस बात की सावधानी रखनी पड़ती है कि पहले कौन-सा वर्ण, कौन-सा स्वर, कौन-सा व्यंजन लिखना चाहिए और किस प्रकार लिखना चाहिए ?

इस प्रकार स्वर-व्यंजन बनाने का पहले परिक्रम—अभ्यास किया जाता है और जब अभ्यास बढ़ जाता है तभी बिना किसी कठिनाई के मनचाहा लिखा जा सकता है। किसी किसान से तुम अपनी तरह लिखने को कहो तो वह नहीं लिख सकेगा, क्योंकि उसका लिखने का परिक्रम नहीं हुआ है। इसके विपरीत यदि किसान तुमसे खेत जोतने को कहे तो जुताई का कार्य तुम से न होगा। इसका भी यही कारण है कि जोतने के विषय में तुम्हारा परिक्रम नहीं हुआ है। किसान का पढ़ने-लिखने में परिक्रम नहीं हुआ, किन्तु खेत जोतने में परिक्रम हुआ है, इससे विपरीत तुम्हारा पढ़ने-लिखने में परिक्रम हुआ है पर जुताई में परिक्रम नहीं हुआ है। किसानों के जुताई संबंधी परिक्रम पर ही आज संसार का जीवन निर्भर है।

कहने का भावार्थ यह है कि कला-कौशल के विकास को शास्त्रकार द्रव्य. परिक्रम कहते हैं। आज किसी भी मनुष्य में सम्पूर्ण परिक्रम-सम्पूर्ण विकास-हुआ नजर नहीं आता। पर यदि किसी में सम्पूर्ण परिक्रम हो जाय तो उसमें और परमात्मा के बीच में कुछ भी अन्तर न रह जाय, वह स्वयं परमात्मा बन जाय। इतना सम्पूर्ण विकास न कर सकने के कारण निराश होने की आवश्यकता नहीं है। प्रयत्न करने से सम्पूर्ण विकास भी साधा जा सकता है।

शास्त्र में मेघकुमार के अध्ययन में कहा है कि मेघकुमार राजकुमार था। उसने बचपन से ही सब क्रियाएँ सीख ली थीं, फिर भी जब वह कुछ बड़ा हुआ तो वह कलाचार्य के सुपुर्द कर दिया गया था। वहाँ वह लेखन-शिक्षा से लगाकर शकुन-शास्त्र की शिक्षा तक—७२ कलाएँ सीखा था। इन ७२ कलाओं में मानव-जीवन की आवश्यकता संबंधी समस्त बातों का समावेश हो जाता है। इस विषय का पूर्ण विवरण ज्ञान-सूत्र (नाया धम्मकहा) में दिया गया है। यहाँ उसके विस्तारपूर्वक वर्णन करने का अवकाश नहीं है। इस समय तो सिर्फ यही कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में सब को ७२ कलाएँ सूत्र से, अर्थ से और कर्म से सिखाई जाती थीं। आजकल हाई स्कूलों और कॉलेजों में दी जाने वाली शिक्षा में तथा प्राचीन काल में दी जाने वाली शिक्षा में कितना अधिक अन्तर है ? यह बात गहरे पैठ कर विचार करने से अपने-आप विदित हो जायगी। आज-कल जो पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं उनका सक्रिय शिक्षण नहीं दिया जाता और आधुनिक शिक्षा की दुर्दशा का यही कारण है। आज के विद्यार्थी से अमुक वस्तु कर दिखाने के लिए कहा जाता है तो तत्काल उत्तर मिलाता है—'यह वस्तु कैसे बनती है, यह बात हमने पुस्तक में पढ़ी है, बांची है, पर बनाने में हम असमर्थ हैं।' इस प्रकार की निष्क्रिय शिक्षा से उदीयमान प्रजा को कितना और क्या लाभ पहुँच सकता है, यह एक विचारणीय बात है।

शास्त्र में मेघकुमार की शिक्षा के विषय में यह बताया गया है कि उसने पहले सूत्र-रूप में शिक्षा ग्रहण की, फिर अर्थ-रूप में

और फिर क्रिया के रूप में । अन्न किस प्रकार उत्पन्न करना, उसे खाने के योग्य बनाना और किस प्रकार उसे पकाना चाहिए ? इस तरह सूत्रतः, अर्थतः और कर्मतः—तीनों प्रकार से शिक्षा का उपयोग करने से ही वह जीवन में उपयोगी सिद्ध हो सकती है ।

पढ़ी हुई शिक्षा यदि गुनी न जाय अर्थात् ज्ञान को यदि सक्रिय न बनाया जाय तो वह शिक्षा सार्थक नहीं हो सकती । अतएव युवकों को चाहिए कि वे केवल पुस्तक पढ़ लेने मात्र से अभिमान न करें वरन् सक्रिय कार्य करें । इसी में शिक्षा की सार्थक है । युवक जो कुछ पढ़ें, जो कुछ भी कहें उसे करके दिखावें । आज भारतवर्ष की जो हीन दशा दृष्टिगोचर हो रही है, उसका कारण यह है कि लोग थोड़ा-सा पढ़ना-लिखना सीखे नहीं कि अभिमान में डूब जाते हैं और कार्य को छोड़ बैठते हैं ।

सुना है कि एक अमेरिकन गृहस्थ भारत में किसी उच्च पद पर बहुत वर्षों तक कार्य करके, पेन्शन पाकर अमेरिका लौट गया । एक बार उसका एक भारतीय मित्र उससे मिलने के लिए उसके घर गया । घर पहुँच कर उसने अपने अमेरिकन मित्र की खोज की । खोज करने पर पता चला कि वह बाहर गया है । उसकी पत्नी ने उसे आदरपूर्वक बिठलाया और कहा—'आप जरा विश्राम कीजिए, वह अभी आये जाते हैं ।' थोड़ी देर बाद अमेरिकन मित्र की पत्नी ने कहा—'देखिए, साहब आ रहे हैं ।', भारतीय ने देखा—साहब चड्डी पहने, हाथ में कुदाल लिये, और मिट्टी से भरे शरीर से आ रहे हैं । साहब को इस रूप में देखकर भारतीय सज्जन आश्चर्य में पड़ गये और सोचने लगे—'यही साहब

भारत में कितने ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित थे और यहाँ इनकी यह दशा है !' साहब आकर सीधे स्नान-गृह में गये और नहा-धोकर तथा कपड़े बदलकर बैठक में आये। भारतीय ने उनसे पूछा—'भारत में तो आप बड़े ठाठ से रहते थे और यहाँ इस हालत में क्यों रहते हैं ?' साहब बोले—'भारत में यह बड़ी त्रुटि है कि वहाँ के लोग जरा-सी साहबी पाकर फूले नहीं समाते हैं और अपने धंधे को तिलांजलि दे बैठते हैं। जब हम वहाँ जाते हैं तो भारतीयों की देखादेखी हमें भी वैसा करना पड़ता है, परन्तु हम लोग चाहे जितने ऊँचे पद पर क्यों न आसीन हों, मगर अपना घरू धंधा कभी नहीं छोड़ते। मुझे धन की बिलकुल कमी नहीं है, पर मैं अपने किसानी धंधे को, जिसे मेरे पूर्वज वर्षों से करते आये हैं, किस प्रकार त्याग सकता हूँ ? मैं अपना धंधा छोड़ दूं, तो मुझे और मेरे कुटुम्ब को और साथ ही मेरे देश को अत्यन्त हानि पहुँचेगी। इस विचार से, मैं पर्याप्त धन होने पर भी अपने पुरुपाओं का धंधा करता हूँ।'

अमेरिका, यूरोप आदि पाश्चात्य देशों के धनिकों की ऐसी दशा है जब कि भारत के धनिकों तथा शिक्षित लोगों की हालत यह है कि वे दूसरों के लिए भार-रूप सिद्ध हो रहे हैं। भारतवर्ष का यह सौभाग्य समझिये कि यहाँ के किसान अभी तक दूसरों को ठगना नहीं सीखे हैं, अन्यथा भारतवर्ष को अत्यन्त कठिनाइयों में से गुजरना पड़ता। अस्तु।

कहने का आशय यह है कि शास्त्र में जिस परिक्रम की बात कही है उस पर विचार करो। शास्त्र में ७२ कलाओं का जो वर्णन

किया गया है वह द्रव्य परिक्रम है। तुम कह सकते हो कि द्रव्य-परिक्रम और वस्तु-विनाश तो दुनिया में चलता ही रहता है। आप-तो भाव-परिक्रम की बात कहिए। पर यह न भूल जाइए कि द्रव्योन्नति के बिना भावोन्नति नहीं हो सकती। जिनका शरीर और मन दुर्बल है, वह क्या धर्म का भलीभाँति आराधन कर सकते हैं? वे क्या धर्म को अपने जीवन में स्थान दे सकते हैं? आज शरीर का परिक्रम नहीं किया जाता और इस कारण शरीर भी सशक्त नहीं होता। बालक के शरीर का शारीरिक परिक्रम करने से ही विकास हो सकता है और उसका शरीर शक्तिशाली बन सकता है।

अहमदनगर में राममूर्ति पहलवान ने कहा था कि मुझे चाहे जैसा निर्बल और अशक्त पाँच वर्ष का बालक सौंप दिया जाय, मैं बीस वर्ष की उम्र में उसे दूसरा राममूर्ति बना सकता हूँ। इस प्रकार भाव परिक्रम करने के लिए द्रव्य परिक्रम की भी आवश्यकता होती है।

यह तो हुई द्रव्य-धर्म की बात। भाव-धर्म के लिए द्रव्य-धर्म की भी आवश्यकता होती है पर केवल द्रव्य-धर्म हो और भाव-धर्म न हो, तो अकेला द्रव्य-धर्म आत्मा के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। शास्त्र में कहा है—

सव्वा कला धम्मकला जिणाई।

भाव-धर्म के विना द्रव्य-धर्म से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। कदाचित् तुम कहोगे कि जब जीवन-व्यवहार संबंधी कार्य द्रव्य-धर्म से चल सकते हैं, तो फिर भाव-धर्म की क्या आव-

श्यकता है ? भाव-धर्म के विना क्या हमारा काम रुक जायगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस भाव-धर्म के लिए द्रव्य-धर्म किया जाता है उस भाव-धर्म को ही यदि भुला दिया जाय तो फिर द्रव्य उन्नति कैसे हो सकती है ? तुम जो कुछ भी करते हो वह किसके लिए करते हो ? आत्मा के लिए ही करते हो न ? तव यदि आत्मा को ही न जानो तो उसकी उन्नति किस प्रकार कर सकते हो ? और इस प्रकार जव तक आत्मा को न जानो, तव तक भाव धर्म की साधना भी किस प्रकार हो सकती है ?

यदि कोई कहे कि हम तो यह भी नहीं जानते कि आत्मा क्या चीज है ? तो इसका उत्तर यह है कि तुम जिस शरीर को प्रत्यक्ष देख रहे हो, उसके विषय में यह विचार करो कि शरीर कार्य है या कारण ? शरीर कार्य है और उसका कारण पंच-भूत है। जैसे घड़ी कार्य है और उसके साँचे उसके कारण हैं, इसी प्रकार शरीर कार्य है और पाँच-भूत उसके कारण हैं। यहाँ तक समझने में तो भूल नहीं होती, पर आगे चलने पर भूल हो जाती है। अव आगे यह समझिये कि शरीर जव कार्य है तो इसका कर्त्ता कौन है ? कितनेक लोग कहते हैं कि जैसे पुर्जे तरतीववार जमा देने से घड़ी चालू हो जाती है, इसी प्रकार पाँच भूतों के संयोग मात्र से यह शरीर भी वोलता-चलता वन जाता है। जैसे घड़ी के पुर्जे विख-रने से घड़ी वन्द हो जाती है उसी प्रकार पाँच भूतों के विखरने से यह शरीर भी वोलता चलता नहीं रहता। इसके लिए परलोक या आत्मा को मानने की क्या आवश्यकता है ?

कल-पुर्जों को यथास्थान जमा देने से घड़ी चालू हो जाती है, यह तो ठीक है; पर प्रश्न तो यह है कि पुर्जों को जमाया किसने

और बनाया किसने है ? मकान तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है पर उसे बनाया किसने है ? यद्यपि मकान बनाने में ईंट-चूना आदि कारणभूत हैं, पर इसीलिए ईंट-चूने को तो कोई मकान नहीं कहता है। किन्तु जब कोई कारीगर ईंट-चूना आदि सामग्री से मकान, बनाता है तभी वह मकान कहलाता है। यहाँ कर्त्ता कारीगर था तभी मकान बन सका है, अकेले ईंट-चूना आदि कारणों से मकान नहीं बना है। ईंट-चूना आदि कारणों में कारीगर की शक्ति का उपयोग किया गया है। उसके बाद वह ईंट-चूना नहीं कहलाता वरन् मकान कहलाने लगता है। इसी प्रकार शरीर पाँच-भूतों से बना हुआ है, इस कारण पंचभूत को शरीर नहीं कहा जा सकता बल्कि पंचभूत से शरीर बना है, ऐसा कहा जा सकता है। जैसे ईंट-चूना से मकान बनता है पर उसका बनानेवाला कोई अवश्य होता है, वैसे ही पंचभूत से बने हुए शरीर को बनानेवाला कोई अवश्य होना चाहिए। मकान को राज बनाता है, घड़ी को कोई कारीगर बनाता है, तो क्या शरीर को बनाने वाला कोई नहीं है ? जब शरीर का कारण पंचभूत है और शरीर कार्य है, तब इसका कर्त्ता भी कोई होना ही चाहिए। तुम शरीर को स्वीकार करते हो, उसके कारण-रूप में पाँच भूतों को मानते हो, परन्तु जिसने पाँच भूतों से शरीर बनाया है उसे नहीं मानते; यह क्या उचित कहा जा सकता है ? शरीर का कर्त्ता न मानना, बस यही भयंकर भूल है !

मैंने मिरी कारेली नामक एक पाश्चात्य विदुषी के लेख का अनुवाद पढ़ा था। उसमें लिखा था कि संसार के पदार्थों का रूपान्तर तो होता है पर उनका विनाश नहीं होता। मोमबत्ती जल जाने के बाद, ऐसा माना जाता है कि, मोमबत्ती नष्ट हो गई

है। पर वास्तव में वह नष्ट नहीं हुई। केवल उसका रूपान्तर हुआ है। किसी जलती हुई मोमवत्ती के आगे आधुनिक विज्ञान के अनुसार दो यंत्र रख दिये जाएँ तो मोमवत्ती के परमाणु उस यंत्र में एकत्र हो जाएँगे। इसके पश्चात् उन इकट्ठे हुए परमाणुओं को समुदित करके फिर मोमवत्ती वनाई जा सकती है। पानी सूख जाने से लोग समझते हैं कि पानी का नाश हो गया है। पर वास्तव में पानी का नाश नहीं होता। वह हवा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। पानी दो प्रकार की वायु के सम्मिश्रण से बनता है, अतएव उन दोनों हवाओं का संयोग करने से फिरपानी बन सकता है। किसी घड़े को फोड़ दिया जाय तो उसके ठीकरे हो जाएँगे। ठीकरों को पीस दिया जाय तो रेत या मिट्टी जैसा कोई पदार्थ बनेगा, पर उस द्रव्य का अत्यन्त अभाव कदापि नहीं हो सकता। वह द्रव्य, घड़े के ठीकरे आदि के रूप में रूपान्तरिक होता जायगा, किन्तु उसका सर्वथा अभाव न होगा। इसी प्रकार जब कोई साधारण वस्तु भी नष्ट नहीं होती, तो फिर शरीर को बनाने वाले कर्त्ता का नाश कैसे हो सकता है ? इस प्रकार शरीर को बनाने वाला कर्त्ता कदापि नष्ट नहीं हो सकता।

कहने का आशय यह है कि, शरीर है तो उसका कर्त्ता भी है, और जो उसका कर्त्ता है वही आत्मा है। वह आत्मा अजर अमर और अविनाशी है। इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, और आत्मा को जिस धर्म की आवश्यकता रहती है, उसी को मानव-धर्म कहते हैं।

मानव-धर्म को जैन, बौद्ध, वेदान्ती या ईसाई आदि सम्प्रदायों

की दृष्टि से न बतलाते हुए मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि मानव धर्म सामान्य-धर्म है। सामान्य-धर्म में किसी को किसी प्रकार क विरोध नहीं होता। जिस धर्म पर साम्प्रदायिकता का रंग नह चढ़ा है और जिस धर्म को सभी लोग समानभाव से स्वीकार कर हैं उसे सामान्य-धर्म कहते हैं। सामान्य-धर्म के विषय में स सम्प्रदाय वालों ने बहुत विचार किया है। सामान्य-धर्म समस्त संसार का विचार किया जा सकता है, पर उस सब क वर्णन नहीं किया जा सकता। अतएव 'स्थाली पुलाक न्याय से कुछ ऐसी बातें बतलाता हूँ जो समस्त शास्त्रों में मिलती है और सब के काम आती हैं।

जिस शास्त्र में सामान्य-धर्म की बातें नहीं, वह शास्त्र भी नहीं है। अधिक से अधिक उसे एक पक्षी शास्त्र कहा जा सकता है। किन्तु ऐसा शास्त्र समग्र मानव जाति के लिए उपयोगी नहीं हो सकता।

सामान्य-धर्म का वर्णन सब ने किया है, यह बताने के लिए मैं पहले कुरान की साक्षी पेश करता हूँ। कुरान में कहा है:—

ला तो अजे योखल कुल्ला।

अर्थात् हे मुहम्मद ! दुनिया को विश्वास दिला दे कि अल्लाह की दुनिया को कोई सतावे नहीं।

देखना चाहिए कि अल्लाह की संतान कौन है ? क्या हिन्दू अल्लाह की संतान नहीं हैं ? यदि केवल मुसलमान ही अल्लाह की संतान हों, तो अल्लाह पक्षपाती कहलाएगा ! जब वह सबका मालिक कहलाता है, सारा संसार उसी का है, तो क्या हिंदू और क्या मुसलमान

सब उसी की संतान हैं। किसी हिन्दू को कोई मुसलमान सताता है तो क्या वह हिन्दू उसे यह नहीं कहता कि क्या तू अपने मालिक को जानता है ? तू अपने मालिक को सारे संसार का स्वामी कहता है तो क्या उसने किसी को सताने की आज्ञा दी है ? इसी प्रकार यदि किसी मुसलमान को हिन्दू सतावे तो क्या वह मुसलमान उस हिन्दू से यह नहीं कहता कि—क्या तुम्हारे परमात्मा ने किसी को सताने का हुक्म दिया है ? क्या तुम्हारा परमात्मा पूरी दुनिया का मालिक नहीं है ? इस प्रकार जब अल्लाह या परमात्मा सकल संसार का स्वामी है, तो संसार में किसका समावेश नहीं हो जाता?

मान लीजिए कोई वृद्ध पुरुष हाथ में माला लेकर परमात्मा का नाम जप रहा है। इतने में किसी ने आकर उसे गालियाँ देना शुरु किया। वह वृद्ध कहने लगा—देखते नहीं हो, मैं परमात्मा के नाम की माला जप रहा हूँ। मेरा परमात्मा तेरा सत्यानाश कर डालेगा। तब वह दूसरा पुरुष कहने लगा—क्या परमात्मा तेरा ही है ? मेरा नहीं है ? वह मेरा भी है, इसलिए तेरा नाश कर देगा।

इस प्रकार दोनों आपस में कहने लगे कि 'परमात्मा तेरा नाश कर डालेगा।' अब बतलाइए परमात्मा किसका पक्ष लेकर किसका नाश करेगा ? वास्तव में ऐसी ही बातों ने आज के युवकों को धर्म और ईश्वर के प्रति उपेक्षा उत्पन्न हो गई है और इसी कारण कुछ लोग धर्म और ईश्वर के बहिष्कार की बातें करने लगे हैं। कुछ लोग तो ईश्वर और धर्म का उपहास करने से भी नहीं चूकते हैं। पर यह सब उनका भ्रम है। इस भ्रम का कारण ऊपर कहे अनुसार धर्म और ईश्वर का दुरुपयोग करने

वाले लोगों का व्यवहार है। इस विषय में गहराई के साथ विचार किया जाय तो जिस धर्म के लिए छै खंड की ऋद्धि का तिनके की तरह त्याग किया जा सकता है, उस धर्म का महत्व कुछ कम नहीं है। धर्म को यदि जीवन में स्थान दिया जाय, तो समझ में आ सकता है कि धर्म में कितनी अधिक महत्ता विद्यमान है?

यह हुई कुरान की बात। अब देखिए कि गीता में क्या कहा गया है? गीता में कहा है कि तुम चाहो जो पढ़ो पर सब वेद पुराणों का सार संक्षेप में यही है:—

निर्वैरः सर्वभूतेष यः स मामेति पाण्डव !

भावार्थ—समस्त प्राणियों के प्रति निर्वैर बनो किसी के ऊपर वैरभाव न रक्खो।

इस प्रकार कुरान में जो कहा गया है, वही केवल दूसरे शब्दों में गीता में कहा गया है।

अब मैं उस शास्त्र की बात सुनाता हूँ जिसके लिए मैं उत्तरदायी हूँ। इस जैन शास्त्र में कहा है:—

स व्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहि आसवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधई।

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—हे शिष्य! तू सब प्राणियों को अपने समान समझ। जैसे तेरी आत्मा अविनाशी है उसी प्रकार अन्य प्राणियों की आत्मा भी अविनाशी है। अतएव सब प्राणियों को अपने समान मान। किसी के साथ वैर बाँधकर पाप का भागी न बन।

उदयपुर में एक वकील ने मुझ से प्रश्न किया था कि आत्मा जब अविनाशी है, वह किसी का मारा मरता नहीं है, तो किसी को मारने से पाप कैसे लग सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में मैंने कहा था—आत्मा अविनाशी है इसीलिए पाप लगता है और उस पाप का फल भोगना पड़ता है। आत्मा अगर विनाशी होता तो कोई झगड़ा ही न रहता ! मारने वाला और मरने वाला, यदि नष्ट हो जाता, तो पाप का प्रश्न ही कैसे उपस्थित होता ? लोक-व्यवहार में भी, जो मर जाता है उसके ऊपर किसी प्रकार का दावा नहीं हो सकता !

इसी प्रकार आत्मा यदि नाशशील होता तो किसी प्रकार का झगड़ा ही न रहता। मरे हुए पर दावा नहीं होता, पर जीवित पर तो होता है न ? इसी तरह मारने वाला भी नष्ट नहीं हुआ और मरने वाला भी नष्ट नहीं हुआ है, अतएव किसी को मारने से पाप भी लगता है और उस पाप को धोने के लिए धर्म की भी आवश्यकता रहती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो सब प्राणियों को आत्म-तुल्य मानेगा वह किसी के साथ वैर नहीं बाँधेगा और इसलिये वह पाप का भी बंध नहीं करेगा। यह सामान्य मानव-धर्म है। श्री स्थानांग सूत्र में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म, आदि दस धर्मों का वर्णन किया गया है। मैंने इन दस धर्मों पर व्याख्यान किया है, जो पुस्तक रूप में प्रकाशित भी हुआ है।* मुझे मालूम हुआ है कि वह पुस्तक लोगों को अत्यन्त उपयोगी साबित हुई है। इसी प्रकार

---

* देखो 'धर्म अने धर्मनायक'; प्रसिद्धकर्ता—शान्तिलाल वनमाली शेठ।

मनु ने भी ग्राम-धर्म आदि धर्मों का वर्णन किया है। यह सब सामान्य धर्म हैं। जो इस सामान्य धर्म का पालन करता है वही मानव है और इस धर्म का पालन करना ही मानव-धर्म का पालन करना कहलाता है। महाभारत में मनुष्य का सामान्य-धर्म यह बताया गया है:—

श्रद्धा कर्म तपश्चैव, सत्यमक्रोध एव च,
स्वेषु दारेषु सन्तोषः, शौच विद्या न सूयिता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च, धर्मः साधारणो नृप!

महापुरुष किसी राजा से कहते हैं—हे राजन्! मैं मनुष्य मात्र का साधारण धर्म कहता हूँ। वह इस प्रकार है—श्रद्धा रखना, सत्कर्म करना, तप करना, सत्य भाषण करना, क्रोधान करना, अपनी पत्नी में संतुष्ट रहना, पवित्र रहना, विद्याध्ययन करना, क्षमा रखना—किसी के साथ वैर न बांधना, यह मनुष्य मात्र का सामान्य-धर्म है। जिस घर में इस धर्म का पालन नहीं होता, उस घर में हाहाकार मच जाता है।

यह हुई मानव-धर्म की व्याख्या। अब कदाचित् कोई यह कहे कि हम जन्म से ही मनुष्य हैं तो फिर हमें इस सामान्य-धर्म को पालने की क्या आवश्यकता है? यह बात, तुम जिस वृक्ष की छाया में बैठे हो उसी वृक्ष को काटने के समान है। ऐसा कहने वाले को समझना चाहिए कि उसकी खुद की रक्षा भी धर्म द्वारा ही हो रही है। मान लो कि तुम्हारी माता साधारण धर्म का पालन न करती हुई जन्मते ही तुम्हें बाहर फैंक देती तो क्या तुम्हारा जीवन टिक सकता था? माता में सामान्य-धर्म था, इसी-

लिये उसने तुम्हारा पालन-पोषण किया है और इसी कारण तुम्हारा जीवन टिक सका है। इतना होते हुए भी तुम कहते हो कि मानव-धर्म की क्या आवश्यकता है! जीवन में वस्त्र और भोजन की जितनी आवश्यकता है उससे कहीं अधिक आवश्यकता मानव-धर्म की है।

तुम्हारा व्याह हुआ होगा। तुम कैसी स्त्री चाहते हो? अपने अनुकूल वर्त्ताव करने वाली स्त्री तुम सभी चाहते हो या प्रतिकूल चलने वाली? अनुकूल चलने वाली स्त्री सभी चाहते हैं, पर स्त्री यदि सामान्य-धर्म का पालन न करे तो क्या अनुकूल रह सकती है? साधारण धर्म का पालन करने के लिये ही पिता संतान का पालन करता है। धर्म की सहायता के बिना संसार एक श्वास भी नहीं ले सकता। धर्म का अर्थ है नियम। नियम-विरुद्ध एक श्वास भी न लेना यह मानव-धर्म है। तुम दूसरों में नियम देखना चाहते हो, पर यदि तुम स्वयं भी नियम का पालन करो तो कितना अधिक लाभ हो सकता है!

यह तो धर्म के विषय में एक सामान्य बात कही गई है। पर अब धर्म का एक सूक्ष्म तत्त्व आपके सामने रखता हूँ। कोई यह कह सकता है कि आप जो कुछ कह रहे हैं, वह तो नीति है, धर्म नहीं। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि नीति, धर्म का ही एक अंग है। नीति का आधार लेकर उस पर धर्म का महल किस प्रकार खड़ा करना चाहिए, इस बात का विचार करो। नीति किस प्रकार धर्म का पोषण करती है, यह बताने के लिए हितोपदेश की एक कथा कहता हूँ, जिससे यह बात जल्दी और सरलता से समझ में आजाए।

'हितोपदेश' की 'पक्षी की कथा'

कबूतरों की एक टोली जंगल में विचर रही थी। इस टोली का नेता चित्रग्रीव था। वैज्ञानिक कहते हैं कि सर्वसाधारण जनता जिन्हें अपने से बड़ा मानती है उनमें कोई असाधारण गुण होता है। इस कथन के अनुसार कबूतरों ने चित्रग्रीव में नेता के योग्य गुण देखकर उसे अपना नेता बनाया था और उसकी सम्मति से सब साथ-साथ विचरते थे। विचरते-विचरते कबूतरों ने जंगल में चावल बिखरे देखे। एक पारधी ने चावल बिखेर कर उनके ऊपर जाल फैलाया था। चावलों को देखकर कुछ कबूतर कहने लगे—'चलो, चावल पड़े हैं, उन्हें खाएँ'। पर राजा चित्रग्रीव ने विचार कर कहा—

अत्र निर्जन वने कुत्र तण्डुल कणानां सम्भवः? निरूप्यतां तावत्, भद्रमिदं न पश्यामि।

अर्थात्—इस निर्जन वन में चावलों के दाने कहाँ से आये? मुझे तो इन चावलों को खाने में कल्याण नहीं जान पड़ता। अतएव थोड़ी देर राह देखो। मैं जाँच-पड़ताल कर आता हूँ।

राजा चित्रग्रीव ने ऐसा कहा। पर आज के युवक मानें, तो वे कबूतर मानें! ऐसे थे वे कबूतर! राजा या नेता बना तो दिया जाता है, पर बहुत बार उसकी आज्ञा मानने में कठिनाई प्रतीत होती है। इस प्रकार एक हठी कबूतर को राजा चित्रग्रीव का कथन रुचिकर न हुआ। वह बोला विपदा के वक्त बूढ़ों की बात माननी चाहिए। भोजन के समय बूढ़ों की बात मानने से तो हानि ही होती है। यदि हम ऐसी शंका करते रहेंगे, तो सभी जगह ऐसी शंकाएँ

उत्पन्न होंगी और फल यह होगा कि तड़प-तड़प कर भूखों मरना पड़ेगा। आँखों के आगे चावल पड़े हैं, फिर भी चावल लेंगे तो 'यह होगा, वह होगा' इस तरह कार्य-कारण भाव का विचार करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ? राजा की यह बात हमें तो जँचती नहीं।

आज के नवयुवक यह कहने लगते हैं कि हम यदि इन बूढ़ों के कथनानुसार चलेंगे तो अणु मात्र भी सुधार न हो सकेगा। कबूतर भी यही कहने लगे। पर ऐसी परिस्थिति में नेता का क्या कर्त्तव्य है, यह देखिए।

चित्रग्रीव ने सोचा—'सब कबूतर एक-मन हो गये हैं। मैं इनके मत से विरुद्ध चलूंगा तो अनैक्य आ घुसेगा।' इस प्रकार विचार कर उसने कबूतरों से कहा—'यदि सभी का विचार चावल खाने का है, तो चलो। भूख तो मुझे भी लगी है।' चित्रग्रीव ने यह नहीं कहा कि तुम लोग मेरी बात नहीं मानते तो तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। मैं तो तुम से अलग ही रहूँगा। चित्रग्रीव को भलीभाँति ज्ञान था कि यहाँ संकट है, फिर भी उसने सोचा—संकट-काल में मुझे सब के साथ रहना चाहिए। यही मेरा कर्त्तव्य है। जब सिर पर संकट आ पड़ेगा, तब आप ही मेरी बात मानेंगे।

यह विचार कर राजा भी सब कबूतरों के साथ चल दिया। कबूतरों ने चावल के दाने तो खाये, पर सब के पैर जाल में फँस गये। वे उड़ने में असमर्थ हो गये। अब सभी कबूतर उस जवान कबूतर को कोसने लगे कि तूने राजा की आज्ञा नहीं मानी और सब को जाल में फँसा दिया। राजा ने सब को सान्त्वना देते हुए कहा—जो होनहार था सो हो गया है। अब उसे कोसना छोड़कर

जाल में से छुटकारा पाने का उपाय खोजो। उपालम्भ देने से काम नहीं चलने का।

> *आपदामापतन्तीनां, हितोऽप्यायाति हेतुताम्।*
> *मातृजङ्घा हि वत्सस्य, स्तम्भीभवति बन्धने॥*

अर्थात्—जब आपत्ति सिर पर आ पड़ती है, तब मित्र भी शत्रु का-सा व्यवहार करने लगते हैं। यह एक साधारण नियम है। इस कबूतर का विचार हमें फँसाने का नहीं था। वह तो सिर्फ यही चाहता था कि हम सब को भोजन प्राप्त हो। मगर सहसा विपत्ति आ पड़ी तो इसमें इसका क्या दोष है ? इसके अतिरिक्त इसे दोष देने से ही तो हमारा छुटकारा नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में उलहना देना व्यर्थ है।

आज के लोग दूसरों को उपालम्भ देना बहुत जानते हैं। यह बुरा है, वह बुरा है, इस प्रकार दूसरों को कहते हैं, पर अपने में क्या-क्या बुराइयाँ हैं, इस बात का विचार तक नहीं करते। मैंने एक लेख में देखा था कि एक महाशय भाषण तो बहुत लम्बे-चौड़े दे डालते हैं, पर वह स्वयं व्यभिचार के दोष से मुक्त नहीं रह सकते! ऐसे लोगों से क्या सुधार हो सकता है ?

राजा ने कबूतरों से कहा—उपालंभ देना बन्द करके जाल से मुक्त होने का उपाय सोचो। राजा की यह बात सुनकर सब कबूतर कहने लगे—'आप ही इसका कोई उपाय बताइए'। राजा बोला—'तो मेरी बात सब लोग मानोगे न ?' सब ने कहा-'पहले आपकी बात न मानने का कटुक फल यह भोगना पड़ रहा है। अ

आपकी आज्ञा का पालन अवश्य करेंगे और आप जो आज्ञा देंगे वही करेंगे।'

संकट एक शिक्षाप्रद बोध-पाठ है। राजा ने कहा—'यदि सब एक मत हो जाओ तो हम संकट से मुक्त हो सकते हैं। एक भी कबूतर अगर अलग रहा तो संकट से मुक्त नहीं हो सकेंगे। अतएव सब हिलमिल कर एक साथ उड़ो और इस जाल को साथ ही-साथ उठाओ, तो जाल से मुक्ति पाई जा सकेगी।'

आज भारत में फूट है और इसी फूट के कारण पारधियों की बन पड़ी है। फूट न होती तो भारत किसी के जाल में न फँसता।

सब कबूतर मिलकर एक साथ जाल को लेकर आकाश में उड़ चले। कबूतरों को उड़ते देख पारधी उनके पीछे-पीछे दौड़ा और सोचने लगा—मैं इन कबूतरों को अपने जाल में फँसाना चाहता था, पर यह तो मेरे जाल को लेकर चलते बने। इस समय यह सब एक-मत हो रहे हैं अतएव गिरते नहीं हैं, पर जब इनमें फूट पड़ेगी तब सारे नीचे आ गिरेंगे। यह सोचकर पारधी कबूतरों के पीछे-पीछे भागने लगा। पारधी को पीछा करते देख राजा ने कहा—देखो, पीछे अपना शत्रु आ रहा है। अतएव आपस में झगड़ना नहीं और यह न सोचना कि उड़ने में सब अपने बल का उपयोग कर रहे हैं तो मैं अपने बल का उपयोग क्यों करूँ? यदि आपस में लड़ोगे-झगड़ोगे या एक-दूसरे को सहकार न दोगे, तो हम सभी नीचे गिर पड़ेंगे और काल का ग्रास बन जाएँगे। राजा की यह चेतावनी सुनकर सब कबूतर मिल कर उड़ने लगे। पारधी थोड़ी दूर तो पीछे-पीछे दौड़ा, पर अन्त में वह थक गया और

वापस लौट गया। पारधी को पीछा लौटा देखकर कबूतरों ने राजा से कहा—शत्रु तो लौट रहा है, अब हमें क्या करना चाहिए? राजा ने कहा—हम लोग एक आपत्ति से मुक्त हो गये हैं, पर अभी जाल से मुक्त होना बाकी है। जाल को तोड़ने को शक्ति हम लोगों में नहीं है। यह शक्ति जमीन खोदने वालों में ही होती है। अतएव हम आगे उड़ते चलें। हम तो सिर्फ़ उड़ना जानते हैं, हमें जाल काटना नहीं आता!

आज स्वतंत्रता तो सभी चाहते हैं। किन्तु जो लोग आकाश में स्वैर विहार करने की तरह केवल लम्बे-चौड़े भाषण ही करना जानते हैं, उनसे परतंत्रता का जाल कट नहीं सकता। परतंत्रता का जाल तो ज़मीन को खोदने वाले किसान ही काट सकते हैं।

राजा ने कबूतरों से कहा—गंडकी नदी के किनारे हिरण्यक नामक मेरा एक मूषक (चूहा) मित्र रहता है। हालाँ कि मैं कबूतर हूँ और वह चूहा है, फिर भी वक्त-बेवक्त कभी एक दूसरे को सहायता पहुँचा सकें, इस उद्देश्य से हमने आपस में मित्रता की है। अतएव हम सब उसके पास चलें, तो वह इस जाल के बंधनों को काट डालेगा और हम लोगों को बन्धन-मुक्त कर देगा।

सब कबूतर उड़ते-उड़ते गंडकी नदी के किनारे आ पहुँचे। जाल के साथ कबूतरों को उड़ते आते देख हिरण्यक अकचका गया। सोचने लगा—यह कौन-सी आफ़त आई है! लेकिन उसने अपने बिल में सौ द्वार बना रक्खे थे, इसलिए कि आपत्ति आने पर किसी न किसी द्वार से निकल बाहर हो सके। कबूतरों को देखकर वह चट से अपने बिल में घुस गया।

हिरण्यक के विल के पास आकर चित्रग्रीव ने कहा—'मित्र हिरण्यक ! वाहर निकलो, मैं तो तुम्हारा मित्र हूँ ।' मित्र की आवाज पहचान कर हिरण्यक वाहर निकला और चित्रग्रीव से कहने लगा' – तुम इतने बुद्धिमान् हो, फिर इस जाल में कैसे फँस गये !' राजा ने उत्तर दिया—यह तो समय की वलिहारी है । राजा ने यह नहीं कहा कि इन कबूतरों ने मेरा कहना नहीं माना इस कारण जाल में फँस गये । हिरण्यक यह सुनकर चित्रग्रीव मित्र का जाल काटने के लिए उसके पास आया । पर चित्रग्रीव ने कहा—मित्र ! पहले मेरे इन साथियों के वन्धन काटो ! चित्रग्रीव चाहता तो पहले अपने वन्धन कटवा सकता था । पर उसने ऐसा न करते हुए अपने साथियों के वन्धन काटने का आदेश दिया । हिरण्यक ने कहा—मित्र ! मैं वहुत छोटा प्राणी हूँ । मैं इन सबके वन्धन कैसे काट सकूंगा ? मेरे दांत भी इतने मजबूत नहीं हैं कि सबके वन्धन काट सकूं । अतएव पहले तुम्हारे वन्धन काट देता हूँ । इसके वाद यदि मेरे दांतों में शक्ति होगी, तो दूसरों के भी काट दूंगा ।

हिरण्यक की यह वात चित्रग्रीव ने स्वीकार न की । नीति कहती है:—

> आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
> आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥

भावार्थ—आपत्ति के समय धन की रक्षा करनी चाहिए, और धन का त्याग करके भी स्त्री की रक्षा करनी चाहिए, परन्तु आत्म-रक्षण के समय स्त्री की या धन की हानि का भी

खयाल नहीं करना चाहिए। जव नीति यह कहती है तो चित्र-ग्रीव ने अपने वंधनों को पहले क्यों नहीं कटवा लिया? उत्तर यह है कि नीति भले ही ऐसा विधान करती हो, पर धर्म तो कुछ और ही वतलाता है। हिरण्यक ने अपने मित्र को जब यह नीति वतलाई तो राजा ने कहा—

नीतिस्तावदीहश्येव, किन्त्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढं सर्वथाऽसमर्थः।

राजा ने कहा—नीति भले ही ऐसा विधान करती हो, पर मैं तो नीति से आगे वढ़ गया हूँ। नीति मस्तक की उपज है, जव कि धर्म हृदय से उद्भूत होता है। नीति अपने आश्रितों की पर-वाह न करके अपनी रक्षा करने का उपदेश देती है, पर धर्म वतलाता है कि स्वयं कष्ट-सहन करके भी दूसरों को सुखी वनाओ! राजा ने कहा—मैं तो धर्म का पालन करूंगा। प्रिय मित्र! मैं तुम्हारे ऊपर अधिक वोझ लादना नहीं चाहता। तुममें जितनी शक्ति हो उसी के अनुसार मेरे इन आश्रितों के वन्धन काटो। कदाचित् तुम कहोगे कि दूसरों के लिए आप स्वयं वंधन में क्यों पड़े रहोगे? लेकिन मित्र! मेरा धर्म मुझे वतलाता है कि:—

धनानि जीवितं चैव, परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो, विनाशे नियते सति॥

धर्म का यह विधान है कि दूसरों के लिए धन और यहाँ तक कि जीवन का भी उत्सर्ग कर देना चाहिए, जव कि नीति स्वयं अपना रक्षण करने के लिए कहती है।

धर्म और नीति में यही अन्तर है। धर्म कहता है–'लीजिए', नीति कहती है—'लाये जाओ।' नीति स्वार्थ पर नजर रखती है, धर्म परमार्थ की ओर संकेत करता है। जिस प्रकार माता का धर्म बालक को चूमना, पुचकारना ही नहीं है, किन्तु बालक का पालन-पोषण करना है, इसी प्रकार आगे बढ़ते जाइये और इस नीति द्वारा धर्म को हृदय में स्थान देते चले जाइए।

चित्रग्रीव ने हिरण्यक से कहा—मैं पहले अपने बन्धन न कटवा कर अपने साथियों के बंधन कटवाने का आग्रह क्यों करता हूँ? इसका कारण यह है—

जाति द्रव्यगुणानाञ्च, साम्यमेषां मया सह।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि, कदा किं तद् भविष्यति॥

हे मित्र! जाति से मैं भी कबूतर हूं और यह सब भी कबूतर हैं। द्रव्य से मेरे दो पंख हैं और इन सब के भी दो-दो पंख हैं। गुण के लिहाज से भी हम सब बराबर हैं। इतनी सब समानता होने पर भी यह मुझे राजा मानते हैं। अब आप ही बताइये कि इसका लाभ इन्हें कब मिलेगा?

आज सबल के दो भाग बताये जाते हैं। क्या राजा भी दो भाग लेने वाला है? ऐसा कहने वाला वास्तव में बलवान् नहीं है। सच्चा बलवान् वह है जो अपने सर्वस्व का समर्पण करके अपने आश्रित जनों की रक्षा करता है।

चित्रग्रीव ने कहा—मित्र! जब मैं राजा हूँ तो राजा की हैसियत से अपने आश्रितों की रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है या नहीं? मित्रता की खातिर तुम्हारा भी यह कर्त्तव्य है कि पहले

मेरे आश्रितों के वन्धन काट कर फिर मेरे वन्धन काटो। मित्र! पहले मेरे आश्रितों के वन्धन काट कर मेरे इस भौतिक शरीर के वदले मेरे यश रूपी शरीर की रक्षा करो। यह भौतिक शरीर नाशवान है, जव कि यशः शरीर अविनश्वर है। अतएव हे मित्र! मेरे भौतिक शरीर का भोग दे कर भी यशः शरीर को वचाओ।

आज के वृद्ध भी स्वार्थ में डूबे हैं। इसलिए वृद्धों का कर्त्तव्य भी युवकों को वताना पड़ता है।

मित्र की यह वात सुनकर हिरण्यक को अत्यन्त आनन्द हुआ। उस हर्ष के आवेश में उसने सव कबूतरों के वन्धन काट फेंके। हिरण्यक चित्रग्रीव से कहने लगा—मित्र! तुम्हारे उन्नत और उज्ज्वल गुण तुम्हें तीन लोक का स्वामी वनाने के लिए पर्याप्त हैं। वास्तव में त्रिलोकपति वह है जो स्वयं कष्ट-सहन करके दूसरों को कष्ट से वचाता है। यही मानव-धर्म है। स्वयं आपत्तियों को झेल कर दूसरों को सुख-शान्ति पहुँचाना ही मानव-धर्म है।

हिरण्यक ने सव के वन्धन काट कर चित्रग्रीव के वन्धन काटे। राजा ने सव कबूतरों से कहा— जो हुआ सो हुआ। 'वीती ताहि विसार दे, आगे की सुधि लेहु।' अव उसे याद न करना, अन्यथा परस्पर में लड़ाई होगी।

हिरण्यक ने कहा – 'मैं आपका क्या सत्कार करूं? मेरे पास इतनी भोजन-सामग्री भी नहीं है कि आप सव को भोजन करा सकूं?' राजा ने उत्तर दिया – 'भोजन देना कोई वड़ा काम नहीं है। तुमने हमें वन्धनों से मुक्त कर दिया है तो अव खाने की क्या चिन्ता है?'

इसी प्रकार आप भी दूसरों को कष्टों से मुक्त करने का प्रयत्न करो और ऐसा चिन्तन करते रहो कि मैं स्वयं कष्ट झेलकर भी दूसरों को सुखी बनाऊँ ! प्राणी मात्र को आत्म-तुल्य समझूँ । इसके लिए परमात्मा से ऐसी प्रार्थना करोः—

दयामय ! ऐसी मति हो जाय ।

औरों के सुख को सुख समझूँ, सुख का करूँ उपाय ।
अपना दुःख मैं सहूँ किन्तु पर-दुःख न देखा जाय ॥
दयामय० !

दूसरों को कष्ट से मुक्त करने के लिए तुम स्वयं कष्ट-सहिष्णु बनो, दूसरों के सुख में अपना सुख समझो । बस यही मानव-धर्म है । इस मानव-धर्म के पालन करने में ही स्व-पर का कल्याण है ।

जन-सेवा

(१)
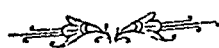
प्रार्थना

कुंथु जिनराज ! तू ऐसो, नहीं कोई देव तो जैसो ।
त्रिलोकीनाथ तू कहिये, हमारी बांह दृढ़ गहिये ॥कुंथु०

श्री कुंथुनाथ भगवान् की यह प्रार्थना है। आज मस्तिष्क में वैसी स्वस्थता एवं शान्ति नहीं है, जिसकी व्याख्यान करते समय आवश्यकता है। संभव है इस कारण बोलने में कुछ अपूर्णता रह जाय। किन्तु परमात्मा की प्रार्थना का विषय तो ऐसा है, जिसमें अपूर्णता या न्यूनता को कोई स्थान ही नहीं है। चाहे जैसी तबीयत हो, चाहे जितनी शक्ति या योग्यता हो पर परमात्मा की स्तुति सदा ही की जा सकती है। ज्ञानी जनों के इस कथन पर मेरा पूर्ण विश्वास है।

परमात्मा की प्रार्थना के संबंध में यह बात हुई। हमें यह विचार करना चाहिए कि परमात्मा की प्रार्थना किस प्रकार करनी चाहिए।

विचार, बुद्धि और दृष्टि विन्दु भिन्न-भिन्न होने के कारण परमात्मा की प्रार्थना की रीतियाँ भी भिन्न-भिन्न हो सकती हैं और हैं भी। पर ज्ञानी जन इस विभिन्नता में भी एकता का दर्शन और प्ररूपण करते हैं। भिन्न-वाक्यता में किस प्रकार एक-वाक्यता समायी रहती है; इस वात का विवेचन ज्ञानी जन ही भली भाँति कर सकते हैं, फिर भी अपनी शक्ति के अनुसार मैं भी इस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करता हूँ।

प्रार्थना की पूर्वोक्त कड़ियों में जो कुछ कहा गया है, उससे यह विदित होता है कि कोई सिद्ध है, कोई साधक है। साधक, सिद्ध बनने के लिए साधन का उपयोग करता है, क्योंकि साधन द्वारा ही 'सिद्ध' बना जा सकता है। सिद्धों की साधना देखकर यह समझा जा सकता है कि यदि पर्याप्त अच्छे साधन हमें मिल सकें तो हम भी सिद्ध हो सकते हैं। जिन्होंने 'सिद्ध' पद पा लिया है, वे हमारे लिए साधन का जो आदर्श छोड़ गये हैं, अगर उसी आदर्श-मार्ग का अनुसरण किया जाय, और उल्टे मार्ग का अवलम्बन न लिया जाय तो हम भी निस्सन्देह सिद्धि लाभ कर सकते हैं।

सिद्धों ने हमारे लिए कौन-सा आदर्श-मार्ग बताया है? इस प्रश्न के उत्तर में मैं कहता हूँ—यह मार्ग परमात्मा की प्रार्थना करने का मार्ग है।

परमात्मा की प्रार्थना यदि सम्यक् प्रकार से की जाय, उसमें किसी प्रकार के छल-कपट का समावेश न हो, तो आत्मा संसार की इस भूल-भुलैया में कदापि न भटके। लेकिन आत्मिक अशुद्धि को दूर करने जाते, दूसरे प्रकार की अशुद्धि न आ जाय, परमात्मा की प्रार्थना करते समय इस बात की सतत सावधानी रखनी चाहिए। क्योंकि परमात्मा की प्रार्थना का उद्देश्य आत्मिक अशुद्धता को धो डालना है।

आत्मा अपने वास्तविक रूप को भूलकर, संसार की ऋद्धि के प्रलोभन में पड़ जाता है और फिर उन प्रलोभनों के पीछे-पीछे भटकता फिरता है। वह जगत् के एक दुःख को दूर करने के प्रयास में दूसरे अनेक नये दुःखों का शिकार बन जाता है। वह इस मूल तथ्य की ओर नहीं देखता कि—'मैं जिन कष्टों को दूर करने के लिए व्यग्र हो रहा हूँ, उन कष्टों का उद्गम-स्थान क्या है ? वह कष्ट क्यों और कहां से आये हैं ? अब वे कष्ट किस प्रकार विनष्ट किये जा सकते हैं ?

मनुष्य भूख का दुःख आने पर भोजन का सहारा लेता है। वह यह नहीं सोचता कि भूख का दुःख क्यों आता है ? कदाचित भूख के कारण पर विचार करता भी है तो उसमें ऐसी कोई भूल कर बैठता है, जिससे एक कष्ट को दूर करने के प्रयास में दूसरे कष्टों को आमंत्रित कर लेता है। परमात्मा की प्रार्थना नवीन कष्टों को न्यौता देने के लिए नहीं है। आगत कष्टों के मूल कारण की खोज करके, उनसे मुक्त होने के लिए और अशुद्धि का निवारण करने के लिए परमात्मा कीप्रार्थना की जाती है।

यह बुद्धिवाद का युग है। इस युग में प्रत्येक कार्य आरंभ

करने से पहले बुद्धि का उपयोग किया जाता है। पर भूल न जाना—जीवन-सिद्धान्त और बुद्धि-सिद्धान्त अलग-अलग दो वस्तुएँ हैं। दोनों के समन्वय में ही व्यक्ति और समाज का मंगल है। अतएव बुद्धि-सिद्धान्त के साथ जीवन-सिद्धान्त का भी उपयोग करना चाहिए।

जीवन-सिद्धान्त का संबन्ध आत्मा से है और बुद्धिवाद का बुद्धि के साथ। आत्मा भूत, भविष्य और वर्तमान—इन तीनों कालों में एक रस रहता है। बुद्धि नाना रूपधारिणी है। वह किसी समय कुछ और किसी समय कुछ बन जाती है। आत्मा नित्य है, बुद्धि अनित्य है। आत्मा सब का एक-सा है और बुद्धि सब की अलग-अलग प्रकार की है। धर्मी, अधर्मी, ज्ञानी, अज्ञानी, वीर, कायर, स्त्री-पुरुष — सभी की बुद्धि सुषुप्ति-अवस्था में कौन जाने कहाँ लीन हो जाती है। परन्तु आत्मा उस अवस्था में भी सब का स्वस्थान पर ही रहता है। गाढ़ निद्रा की अवस्था में बुद्धि विलीन हो जाती है। इन्द्रियों की और मन की सुषुप्ति निद्रा कहलाती है। इस सुषुप्ति में बुद्धि भी शान्त हो जाती है। किन्तु आत्मा जब जागता है तो वीर पुरुष जाग कर जैसे अपने हथियार सँभालता है, उसी प्रकार वह भी अपने संस्कारों के अनुसार बुद्धि को संभालता है। लेकिन सुषुप्ति-अवस्था में बुद्धि कहां गायब हो रहती है, इसका उसे पता नहीं रहता। मगर आत्मा उस समय भी जागृत बना रहता है। ऐसी अवस्था में जीवनवाद — आत्मा के सामने बुद्धिवाद को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

आज सर्व-साधारण की बुद्धि बहिर्मुख हो गई है। बुद्धि

दृश्यमान भौतिक पदार्थों को पकड़ने दौड़ रही है। मगर बुद्धि की यह दौड़ आत्मा की परछाई तक नहीं पा सकती। आत्मा की शोध बुद्धि के सामर्थ्य से परे है। यही नहीं, बल्कि बुद्धि के द्वारा आत्मा का कल्याण भी होना संभव नहीं है।

पाश्चात्य लोगों ने बुद्धि द्वारा बाह्य-भौतिक पदार्थों का खूब विकास किया है। रेडियो की बदौलत अमेरिका में गाया हुआ गीत भारत में बैठे-बैठे सुन सकना क्या छोटी बात है? इस प्रकार बाह्य पदार्थों की शोध में और उनका विकास करने में बुद्धि का उपयोग करने के कारण बुद्धि बहिर्मुखी हो गई है। और बहिर्मुखी बुद्धि वाले आत्मा की खोज नहीं कर सकते। यही नहीं, कुछ लोग तो बहिर्मुख बुद्धि के प्रभाव से प्रभावित होकर यहां तक कहने का साहस करते हैं कि आत्मा कोई वस्तु है ही नहीं। ऐसे लोग, बुद्धि के द्वारा भौतिक पदार्थों के सान्निध्य में इतने अधिक आ गये हैं कि उनकी दृष्टि में भौतिक पदार्थों के सिवाय और कोई वस्तु ही नहीं है। यह भ्रम इसी कारण उत्पन्न हुआ है कि बुद्धि बहिर्मुखी हो गई है। यदि बुद्धि को बहिर्मुख न बना कर अन्तर्मुख बनाया जाय तो वही बुद्धि आत्मोन्मुख बन सकती है। बुद्धि को अन्तर्मुखी बनाने वाले महात्मा आज भी भारतवर्ष मौजुद हैं। ऐसे महात्मा मौजूद न होते तो जगत् में प्रलय न मच जाता! प्राचीन काल के महात्माओं ने बुद्धि को भौतिक पदार्थों से विमुख रख कर अन्तर्मुख बनाया था। उन्होंने कहा था—'इन दृश्यमान बाह्य पदार्थों में ही विश्व की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। इन भौतिक पदार्थों से परे एक वस्तु और भी विश्व में विद्यमान है और वह आत्मा है। वह आत्मा

ाश्वत है—सनातन है।' इन महात्माओं के कथन पर प्रगाढ़
द्धा रक्खो, बुद्धी को वहिर्मुख न बनने देकर अन्तर्मुख बनाओ
ौर फिर परमात्मा के प्रति विनम्र भाव से प्रार्थना करो। बुद्धि
पने-आप में निकम्मी या तुच्छ वस्तु नहीं है। बुद्धि का सहारा
िये बिना आगे प्रगति भी नहीं हो सकती। पर बात इतनी
ी है कि बुद्धि एकान्त वहिर्मुख नहीं होनी चाहिए। अगर बुद्धि
न्तर्मुखी हो तो आत्मा की शीघ्र ही पहचान हो सकती है।

बुद्धि की बदौलत ही हम मनुष्य कहलाते हैं। आत्मा की
ष्टि से तो मनुष्य और पशु में कुछ अन्तर नहीं है। दोनों में
ुद्धि का ही भेद है। पशु की बुद्धि का विकास नहीं हुआ है।
ह भूतकाल और भविष्यकाल के सम्बन्ध में ठीक विचार नहीं
र सकता। मनुष्य की बुद्धि विकसित है। वह पूर्वापर का भली
ाँति विचार कर सकता है।

मान लीजिए, किसी पशु को दुर्भिक्ष के कारण घास-चारा
हीं मिला है। इस कारण उसने बहुत संकट उठाये हैं। पर अब
से घास की गाड़ी मिल जाती है तो वह भूतकाल के संकटों का
मरण करके घास को सिलसिले से संभाल कर नहीं खाता।
ह एक ही साथ सारा घास रौंद डालता है। इस प्रकार पशु
ूतकाल के संकटों का स्मरण रख कर भविष्य में उनसे बचने के
पाय नहीं सोच पाता। इसी से वह पशु कहलाता है, जब कि
नुष्य भूत, भविष्य और वर्तमान की परिस्थिति के सम्बन्ध में
ली भाँति विचार कर सकता है। पशु और मनुष्य में यह
न्तर है।

इतिहास के निर्माण का उद्देश्य भूतकाल से परिचय प्राप्त करना है। प्राचीन काल में कैसे-कैसे बुद्धिमान पुरुष थे और उन्होंने कैसे-कैसे शुभ कार्य किये थे, यह बात विदित होती है। भूतकालीन वृत्तांत को इतिवृत्त द्वारा जानकर हम आगे बढ़ सकते हैं। भूतकाल से शिक्षा ग्रहण करके भावी जीवन को सुख-सम्पन्न बनाना मनुष्य का कर्त्तव्य है। विवेक-बुद्धि से विभूषित मानव व्यक्ति भूतकाल को देख कर अगर भविष्यकालीन जीवन को सुखमय नहीं बनाता तो मनुष्य और पशु में क्या अन्तर है? अतएव प्रत्येक मनुष्य को अपनी बुद्धि का सदुपयोग करके अपना भविष्यकालीन जीवन सुख-सम्पन्न और शांतिमय बनाना चाहिए।

अक्सर पूछा जाता है—जीवन को सुखपूर्ण बनाने का कोई उपाय है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि जीवन को सुखमय बनाने का कोई उपाय न होता, तो महात्मा पुरुष ऐसा करने का उपदेश ही क्यों देते? यही नहीं, वे सुख प्राप्ति के साधनों का निर्देश भी कर गये हैं।

संसार के सभी जीव दुःखों से और संकटों से बचने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। पर इस प्रयत्न में मनुष्य को जितनी सफलता प्राप्त हो सकती है, उतनी सफलता किसी अन्य प्राणी को नहीं प्राप्त हो सकती।

जीवन को सुखी बनाने का उपाय परमात्मा की प्रार्थना है। अगर तुम सुखी बनना चाहते हो तो परमात्मा की प्रार्थना के

साथ प्रीति-सम्बंध स्थापित करो; ऐसा सम्बंध—जो रग-रग में रम जाय, नस-नस में व्याप जाय। ऐसा न हो कि जब तक यहाँ बैठे हो तब तक तो परमात्मा को याद करो और यहाँ से बाहर पैर धरते ही उसे भूल जाओ। अगर कोई बालक, पाठशाला में 'पाँच और पाँच—दस' गिनना सीखा हो, पर पाठशाला से पिंड छूटते ही 'ग्यारह' गिनने लगे तो उसकी सच्ची शिक्षा नहीं कहलाती। इसी प्रकार यहाँ से विदा होते ही अगर मस्तक में से परमात्मा के नाम को भी विदा करदो तो तुम्हारा उपदेश-श्रवण भी—वास्तविक—सफल नहीं कहला सकता। अतएव जब यहाँ से बाहर चले जाओ तब भी परमात्मा को भूलो नहीं। वरन् परमात्मा की प्रार्थना द्वारा, संसार में अवश्यंभावी जन्म-जरा-मरण आदि भयों से मुक्त होकर अमर बनने का प्रयत्न करो। जीवन के इस प्रधान लक्ष्य को भूल न जाना।

कुछ लोगों को यह भ्रम है कि गृहस्थ-अवस्था में रहते हुए भावना अमृतमय नहीं बन सकती। अतएव वे कहते हैं—हम क्या करें—भावना को अमृतमय बनायें या संसार-व्यवहार का निर्वाह करें ? वास्तव में, गृहस्थावस्था साधक दशा में बाधक है किन्तु जो गृहस्थ अमृत-भावना का अभ्यासी बन जाता है, उसके लिए गृहस्थ-अवस्था सर्वथा बाधक नहीं है। अतएव मैं सिर्फ यही कहता हूँ कि परमात्मा की प्रार्थना द्वारा भावना को अमृतमय बनाने का प्रयास करो। प्रार्थना के विषय में तुम बहुत दिनों से सुन रहे हो। उसका कुछ असर तुम्हारे हृदय पर पड़ा है या नहीं ? जब द्रव्य वस्तु—स्थूल—का प्रभाव भी अवश्य पड़ता है तो भाव का प्रभाव पड़े बिना क्या रह सकता है ? अगर तुम उपदेश को अपने

हृदय में स्थान दोगे तो उसका प्रभाव तुम्हारे जीवन पर अवश्य पड़ेगा और उससे तुम्हारा कल्याण भी होगा।

जानते हो भावना को अमृतमय बनाने और न-बनाने में क्या अन्तर है ? कोई एक काम पापी पुरुष करे और वही काम कोई धर्मनिष्ठ करे, तो इन दोनों के काम में जो अन्तर हो, वही अन्तर भावना को अमृतमय बनाने न-बनाने में है।

दोनों एक ही काम करते हैं, फिर भी पापी और धर्मी के कार्य में अन्तर होता है। इस अन्तर का कारण, धर्मी पुरुष के अन्तर में विद्यमान अमृतमयी भावना ही है। जिनके हृदय-रूपी झरने से भक्ति और अमृत भावना का प्रवाह निरंतर प्रवाहित होता रहता है, उनके नेत्रों की ओर देखो, उनका मुँह देखो, उन की प्रत्येक चेष्टा पर दृष्टिपात करो। फिर धर्म से दूर-दूर भागने वाले की आँखें देखो, मुख देखो, प्रत्येक प्रवृत्ति देखो। तुम्हें स्वयं दिखाई देने लगेगा कि दोनों में कितना-क्या भेद है ?

तुम चाहो तो तुम्हारे हृदय से भी भक्ति और अमृतमयी भावना का झरना फूट सकता है। पर तुम बाह्य प्रपंचों में इतने तन्मय हो रहे हो कि वह प्रशान्त प्रवाह दूसरे मार्ग पर चला गया है और तुम यह जानते ही नहीं हो। इसलिए तुम अपनी बुद्धि को बहिर्मुख न होने देकर अन्तर्मुखी बनाओ। बस, तुम्हारे हृदय से भी भक्ति और अमृतमयी भावना का पीयूष-प्रवाह प्रवाहित होने लगेगा।

जिन ज्ञानियों ने अपनी बुद्धि अन्तर्मुखी बना ली है, उनका मुख देखो, तो जान पड़ेगा कि अमृतमयी भावना के प्रभाव से

उनका मुख कितना प्रफुल्लित है ! कितना आह्लादमय है ! कैसी अनुपम शांति उनके मुख पर किलोलें कर रही है ! उनके नेत्र देखो तो मालूम होगा, उनमें से कैसी अद्भुत जोति जग रही है ! कैसा उल्लास उनमें से फूटा पड़ता है ! उनकी किसी भी चेष्टा का अवलोकन करो, विदित होगा कि उसमें जैसे अलौकिक संयतता, अगाध गंभीरता और निस्पृहता भरी हुई है !

दुनिया के लोग जिसे पर्वत के समान दुःख अनुभव करते हैं, उस भयंकर दुःख के माथे पर आ पड़ने पर भी, जिस दिव्य भावना का पवित्र त्राण पाकर ज्ञानी जन प्रसन्न एवं प्रमोदमय बने रहते हैं, मानों चिउंटी भी शरीर पर नहीं रेंग रही है, उस भव्य भावना को खोजो। उसमें एक अद्भुत सामर्थ्य है। वह भावना एक ऐसा अनोखा यंत्र है, जिसमें घोर से घोर दुःख भी सुख का रूप धारण कर लेता है ! वह वेदना की विकृति को निकाल फैंकती है। इस भावना से भूषित भव्य पुरुष कैसा होता है ? यह स्पष्ट करने के लिए एक प्राचीन ग्रंथ में आई हुई कथा उपयोगी होगी। यह कथा सुन कर तुम समझ सकोगे कि अमृतमयी भावना वाला पुरुष किस प्रकार स्व-पर का भेद भूल जाता है और विपदा की वेला कितना अधिक निश्चल और प्रसन्न रह सकता है।

मघा का वृत्तान्त *

मगध देश के एक गाँव में एक किसान के घर पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र का जन्म मघा नक्षत्र में हुआ था, अतएव उसका

* बौद्ध जातक कथा।

नाम भी 'मघा' रक्खा गया। जैन साहित्य में आये हुए उल्लेख से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल के लोग उसी नक्षत्र के आधार पर नाम रखते थे, जिस नक्षत्र में बालक का जन्म होता था। आज नाम रखने की प्रथा और ही प्रकार की चल पड़ी है, पर पहले ऐसी प्रथा नहीं थी।

मघा पूर्व जन्म के विशेष संस्कार लेकर जन्मा था। उसकी आकृति-प्रकृति को परखने वाले लोग कहा करते—बालक अत्यन्त होनहार है। भविष्य में उसके द्वारा कोई उत्तम कार्य होगा। आकृति पूर्व-जन्म के संस्कारों की भव्यता का परिचय देती है। कहावत भी है—'पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते हैं।' तथा 'होनहार विरवान के होत चीकने पात।' यह कहावतें तो पूत के लक्षण पालने में परख लिये जाने की बात कहती हैं, पर वास्तव में तो जब पुत्र माता के गर्भ में होता है, तभी उसके लक्षण परखे जा सकते हैं।

जैसे चन्द्रमा और कमल को देखकर हृदय खिल-सा उठता है, उसी प्रकार बालक मघा को देखकर सब लोगों को आनंद होने लगा। बालक को देखकर भविष्य-वेत्ता कहने लगे—जनता जिस तत्त्व से अनभिज्ञ है, यह बालक वह तत्त्व सब को समझाएगा।

मघा की बाल-क्रीड़ा उसके संस्कारों के अनुसार समाप्त हुई। वह कुछ बड़ा हुआ। अब वह पहाड़, चन्द्र, सूर्य, नदी, सरोवर, वृक्ष, आदि निसर्ग की रचना देखकर आनन्द अनुभव करने लगा।

ज्ञानी और अज्ञानी के बीच यह एक महान् अन्तर है कि अज्ञानी जिन पदार्थों को अपने विनोद और आमोद-प्रमोद का साधन समझता है, ज्ञानी उन्हीं पदार्थों को अपनी जीवन-साधना का कल्याणकारी साधन मानते हैं। किसी झरने का झर्-झर् शब्द सुनकर साधारण आदमी उसे विनोद का कारण मानकर थोड़ी देर खुश हो लेता है। परन्तु ज्ञानी जन उसी ध्वनि को सुन कर गंभीर विचार करते हैं। वे सोचते हैं—'यह झरना, मेरे आने से पहले भी झर्-झर् ध्वनि कर रहा था, इस समय भी यही ध्वनि कर रहा है और जब मैं यहाँ से चल दूँगा तब भी इसका यह नाद निरन्तर जारी रहेगा। यह झरना न किसी की निन्दा की परवाह करता है, न प्रशंसा की; यह तो इसी प्रकार संगीत करता हुआ सागर में समा जाता है। एक ओर मैं हूँ, मनुष्य—प्रकृति का राजा! जो जरा-सी प्रशंसा सुनकर फूल कर कुप्पा हो जाता हूँ और तनिक-सी निन्दा सुनते ही ज्वालाएँ उगलने लगता हूँ!' ज्ञानी-जन प्रकृति के प्रगाढ़ परिचय से ऐसा पाठ सीखते हैं।

मघा भी प्रकृति की पाठशाला में ऐसा पाठ पढ़ने लगा। विशाल सरिताएँ देखकर वह सोचने लगता—'यह गंगा-यमुना आदि नदियाँ कह रही हैं—हम पहाड़ में से निकल कर समुद्र से मिलने जा रही हैं। मार्ग में हमें जितनी गंदगी मिलती है, उसे अपने में मिलाकर अपना-सा रूप प्रदान कर देती हैं। गंदगी से मिलकर हम स्वयं गंदी नहीं बनतीं, वरन् गंदगी को ही अपनी पवित्रता दान कर अपनी-सी बना लेती हैं अर्थात् गंदगी भी हमारे संसर्ग से पवित्र बन जाती है।'

सुना है, बनारस और कलकत्ता आदि शहरों की गटरें गंगा

नदी में उतारी गई हैं। गंगा नदी इन गटरों की गंदगी को अपने पावन जल से स्वच्छ बनाकर अपने में समाविष्ट कर लेती है। महापुरुषों का स्वभाव भी ठीक ऐसा ही होता है। 'गंदा' मनुष्य भी उनके संसर्ग से 'बंदा' बन जाता है। 'गंदा' के संसर्ग से वे स्वयं गंदे नहीं बन जाते, वरन् उस गंदे को ही अपनी पवित्रता रूपी पानी से 'बंदा' बना देते हैं।

मघा ने प्रकृति से इस प्रकार की अनेक शिक्षाएँ प्राप्त कीं। मानो प्राकृतिक रचना ही उसकी पाठशाला बन गई। आज तो शिक्षा पाने के लिए हाई-स्कूल—कॉलेज आदि शालाएँ खुल गई हैं, पर वहाँ जीवन-शिक्षा मिलती है या नहीं, इस बात की जाँच-पड़ताल करने की किसे पड़ी है?

प्रकृति से शिक्षा पाकर मघा ने निश्चय किया—जैसे प्रकृति अपना कर्त्तव्य निरन्तर पालन करती रहती है, वह कर्त्तव्य-पालन में एक दिन भी भूल नहीं करती, इसी प्रकार मैं भी अपने कर्त्तव्य का अप्रमत्त भाव से पालन करूँगा।

इस प्रकार निश्चय करता हुआ मघा बड़ा हो गया। वह अपने हाथ में झाड़ू लेकर अपना और अपने पड़ौसियों का आँगन झाड़-बुहार कर साफ़-सुथरा कर दिया करता। मघा, यह काम किसी की जोर-जबर्दस्ती से नहीं, निष्काम भावना से करता।

मान लीजिए, नगर में जाने के दो मार्ग हैं—एक गंदा है, दूसरा साफ़ है। तुम साफ़ रास्ते से जाना पसंद करोगे, पर

जिन्होंने उसे साफ़ किया है उन्हें पसंद नहीं करोगे—उनसे घृणा करोगे ! यह कितनी बड़ी विडम्बना है !

मघा किसी आशा से प्रेरित होकर नहीं, पर निष्काम भाव-से अपना और अपने पड़ौसी का आँगन साफ करता था। मघा के इस कार्य से उसके घर वाले आग-बबूला हो उठते और उसे उलहना देते। इतना ही बस न था। कोई-कोई अपढ़ घर वाला तो उसे थप्पड़ भी जड़ देता। यह सब होने पर भी मघा अपने कर्त्तव्य में तन्मय रहता और प्रकृति से पाई हुई शिक्षा की परीक्षा हो रही है, यह मानकर सभी कष्टों को शान्तिपूर्वक सह लेता। प्रारंभ में तो वह अपना और अपने पड़ौसी का ही आँगन साफ करता था, पर ज्यों-ज्यों उसकी शक्ति का विकास होता गया, त्यों-त्यों उसने अपना कार्य-क्षेत्र भी बढ़ा दिया।

आजकल लोगों की शक्ति का अधिकांश तो मानसिक चिन्ताओं से नष्ट हो जाता है। आत्मा में अनन्त शक्ति है, पर लोग उस शक्ति को विकसित करने का मार्ग भूल गये हैं और इसी कारण वह शक्ति दब गई है। इसके अतिरिक्त, इस युग में आराम के जितने साधन प्रस्तुत हुए हैं, उनसे उतना ही आत्मिक-शक्ति का ह्रास हुआ है। मोटर, वायुयान आदि साधनों ने तुम्हारी शक्ति का अपहरण किया है। तुम रेडियो सुनना पसंद करते हो, पर उसे सुनते-सुनते अपने स्वर को भी भूल गये हो !

मघा की शक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, त्यों-त्यों वह अधिक विस्तृत कार्य करने लगा। लोग आध्यात्मिकता के नाम पर क्रिया की अवहेलना करते हैं; परन्तु सच्चा ज्ञान वही है जिसमें सक्रि-

यता हो। मघा को जो ज्ञान था, वह उसके अनुरूप कार्य भी करता था। मघा कहने की अपेक्षा कर दिखाने में विश्वास करता था। गली-कूचों में पड़े हुए कचरे को वह उठाता और बाहर फेंक आता था। गलीच जगह को साफ़ कर देता था। कई बार गलियों में रहने वाली स्त्रियाँ, साफ़ की हुई जगह में कूड़ा-कचरा फैंक देती थीं, और मघा उसे उठा कर बाहर डाल आता था। ऐसा करते समय मघा को जरा भी क्रोध न आता था। उल्टे, वह समझता कि यह स्त्रियाँ मेरे कार्य में वेग ला रही हैं। स्त्रियाँ मघा के इस मूक और निस्वार्थ सेवा-भाव को देखकर लज्जित हो जातीं और दुवारा ऐसा अनुचित कार्य न करतीं। उनमें से कोई-कोई तो उसके कार्य में हाथ बँटाने लगीं।

संभव है आजकल की स्त्रियों को मघा का यह कार्य पाप-जनक प्रतीत होता हो, पर इससे उनका धर्म-विषयक अज्ञान ही ध्वनित होता है। कचरा बाहर न फैंकना और उसमें जीवों की उत्पत्ति होने देना अहिंसा धर्म की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। अहिंसा धर्म तो क्षुद्र जीवों की उत्पत्ति न होने देने की हिदायत करता है। यद्यपि यह जीव कर्मवश उत्पन्न होते हैं, पर मनुष्यों में विवेक-बुद्धि है, अतः गंदगी इकट्ठी करके उसमें क्षुद्र जीव उत्पन्न न होने देने का विवेक रखना चाहिए।

मघा ज्यों-ज्यों अपना कार्य-क्षेत्र बढ़ाता गया त्यों-त्यों उसकी निन्दा का क्षेत्र भी बढ़ता चला गया। जहाँ-कहीं लोगों की टोली जमा होती वहीं मघा की निंदा होने लगती। लोग निंदा से घबराते हैं। अगर निंदा से घबराहट न हो तो वह पौष्टिक पदार्थ की

रह शक्ति प्रदान करती है। मघा निंदा से जरा भी विचलित हीं होता था। वह अपने विकास में निंदा को भी एक साधन गे समझता था। अपनी निंदा सुनकर सामान्यतः लोगों को एक कार का आवेश आजाता है। ज्ञानी-जन इस आवेश का सदुप- गोग कर लेते हैं और अज्ञानी उसका दुरुपयोग करते हैं।

लोगों में होती हुई अपनी निंदा सुनकर मघा सोचता—अव रे काम की क़द्र हो रही है। ऐसा सोचकर वह नया उत्साह और नई स्फूर्ति प्राप्त करता। घबराहट उसके पास तक न फटकने ाती।

मघा की निंदा सुनकर वहाँ के दो नवयुवकों ने आपस में वेचार किया—'क्यों मघा की निंदा की जाती है? उसने कौनसा नेन्दनीय दुष्कर्म किया है? क्या वह मदिरा पान करता है? श्यागमन करता है? जुआ खेलता है? वह क्या चिलम या हुक्का पीता है? (वर्तमान युग की भाषा में) क्या बीड़ी-सिगरेट पीता है? या होटलों में जाकर चाय और सोडा-लेमन डकारता है? मघा इनमें से किसी भी व्यसन का सेवन नहीं करता। इसके अतिरिक्त और कोई बुराई भी उसमें नहीं पाई जाती। फिर लोग क्यों उसे बदनाम करते हैं? इस गाँव के सभी लोग तो मघा के निंदक हैं, फिर किसके सामने उसके सत्कार्य की प्रशंसा की जाय? सारा गाँव मघा के कार्य को घृणा की दृष्टि से देखता है, तो देखता रहे, मगर उसका कार्य वस्तुतः लोकोपयोगी है और इसलिए उसके कार्य को वेग अवश्य मिलना चाहिए।"

इस प्रकार विचार कर दोनों नवयुवक मन ही मन मघा की

सराहना करने लगे। एक नवयुवक ने दूसरे से कहा—भाई इस विषय में तुम्हारा और मेरा मन एक है। और एक मन होने से हम ११ के समान बन गये हैं। यदि हम दोनों मघा के साथ मिल जाएँ तो एकसौ ग्यारह के बराबर कार्य कर सकेंगे। अगर तुम अन्तःकरण से मघा के कार्य की सराहना करते हो, तो उस सराहना को वचन तक की सीमित नहीं रखना चाहिए। चलो, मघा के साथ हम लोग मिल जावें और अपने अन्तःकरण की भावना एवं वचन को क्रिया का रूप प्रदान करें।

संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो किसी कार्य की प्रशंसा में 'वाह! वाह!' के नारे लगाते हैं और जब वही कार्य सिर पर आ पड़ता है तो एक ओर खिसक जाते हैं। इस प्रकार की दुरंगी नीति से कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता। अतएव हमारी प्रामाणिकता का यह तकाजा है कि हम जिस कार्य को हृदय से अच्छा समझें उस कार्य को क्रिया में उतारने का हृदय से प्रयास करें। दूसरों को खुश करने के लिए मुँह से वाह-वाह करना कार्यकर्त्ताओं को और अपने अन्तःकरण को छलने की चालाकी है। चालाकी से दुनिया खुश हो सकती है, परमात्मा नहीं।

दूसरे नवयुवक ने उत्तर देते हुए कहा—मघा के साथ मिलने की क्या आवश्यकता है? वह जो कार्य कर रहा है, वही कार्य हम लोगों को भी आरंभ कर देना चाहिए।

पहला युवक—तो क्या मघा अपना गुरु बनेगा?

दूसरा युवक—बेशक !

पहला युवक—सुनते हैं, गुरुपद का अधिकारी वही हो कता है जिसने घर-द्वार त्याग दिया हो और जो भिक्षा-वृत्ति करके विन-निर्वाह करता हो। मघा ने तो अभी घर-द्वार नहीं त्यागा । इस अवस्था में उसे गुरुपद पर किस प्रकार स्थापित किया ा सकता है ?

दूसरा युवक—अगर हमें गृह-त्याग कर निवृत्ति मार्ग पर चलना तो गृह-त्यागी—अनगार पुरुष को ही गुरु बनाना चाहिए। व हम प्रवृत्तिमय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो मघा के मान सत्य प्रवृत्ति करने वाले गुरु की ही आवश्यकता है। मघा से सत्पुरुष को गुरु बनाने से ही, 'प्रवृत्ति' करते हुए भी न्तरात्मा को पवित्र मार्ग पर लगाया जा सकता है।

इस प्रकार विचार-विनिमय करके दोनों युवक मघा के पास ाये। मघा उस समय सफ़ाई के काम में लगा था। दोनों युवकों मघा को प्रणाम किया। विनीत भाव से मघा ने उत्तर दिया— भाइयो, आप लोगों ने मुझ में ऐसा क्या पाया है कि आप मुझे णाम करते हैं ? मैं एक साधारण मनुष्य हूँ। मुझे तो तन ढँकने पूरे कपड़े भी नसीब नहीं होते। मुझ जैसे गरीब को आप सलिए नमस्कार करके आदर दे रहे हैं ?"

मघा की इतनी अधिक नम्रता देख दोनों युवक चकित रह ये और भीतर ही भीतर उसकी निरभिमानता की प्रशंसा करने गे।

गाँधीजी भी थोड़े और सादे वस्त्र पहनते हैं और तुम क़ीमती

कपड़े पहनते हो। फिर भी तुम उनका कितना अधिक आदर करते हो ? उनका जो आदर-सत्कार तुम करते हो सो उनका महत्कार्य देखकर ही। इससे यह प्रकट होता है कि तुम्हारा अन्तरात्मा तो स्वभावतः पवित्रता चाहता है, पर ऊपरी ढोंग उसकी भावना को दबा देता है, कुचल डालता है। वस्तुतः लज्जा-निवारण के लिए वस्त्र पहने जाते हैं। पर आज यह मूल उद्देश्य भुला दिया गया है। अब वस्त्रों में शृंगार को महत्त्व दिया जाता है। वस्त्र लज्जा की रक्षा के लिए पहनने चाहिएं, यह उद्देश्य क्या आजकल के स्कूलों और कॉलेजों में समझाया जाता है ?

मघा ने दोनों युवकों को लक्ष कर कहा—भाइयो, जैसा मेरा काम है वैसी ही मेरी पोशाक है। कीमती कपड़े पहन कर मैं अपना काम करता तो मेरा काम पार ही न पड़ता। कारण यह है कि कीमती कपड़े आलस्य की वृद्धि करते हैं, और आलस्य बढ़ाने वाले बहुमूल्य वस्त्र कार्यकर्त्ताओं को नहीं सोहते। इस कारण मैंने अपनी पोशाक, अपने कार्य के अनुरूप ही रख छोड़ी है।

मघा की यह सीधी और सच्ची बात सुनकर दोनों युवक मित्र अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रसन्नता के साथ मघा से कहा—'हम दोनों आपके शिष्य बनने आये हैं। हम आपकी आज्ञा के अनुसार ही वर्त्ताव करेंगे!'

मघा ने कहा—भाइयो, आप मेरे शिष्य बनना चाहते हैं, पर मेरे पास क्या धरा है ? मैं ऐसी भी स्थिति में नहीं हूँ कि आपको खाने के लिए रोटी का टुकड़ा दे सकूं। मेरे घर वाले बड़ी मुश्किल

ते मुझे भोजन देते हैं। वे कहते हैं—'काम तू औरों का करता है और खाने को यहाँ आ धमकता है!' पर मैं उनके इन कटु वाक्यों की परवा नहीं करता। मैं सोचता हूँ—घर वाले मुझे रुखी-सूखी रोटी के साथ यह वाक्य रूपी घी भी दे रहे हैं। जब मैं अपने घर का काम करता हूँ तो मेरे घर वालों को खुशी होती है। वे सिर्फ़ दूसरों का काम कर देने से नाराज होते हैं। पर मुझे अपना और पराया दोनों का काम करना आनंदप्रद मालूम होता है। मेरे और मेरे घर वालों के विचार में यही बड़ा भारी भेद है। हाँ, तो मैंने अपनी स्थिति साफ़-साफ़ आपके सामने रख दी । क्या फिर भी आप मेरे शिष्य बनना पसंद करते हैं?

युवकों ने कहा—आपने हृदय खोल कर जो बातें कही हैं, उन्हें हम लोग सुन-समझ चुके हैं। हम आपके चरणों का अनुसरण करना चाहते हैं और इसी कारण आपके शिष्य बनना चाहते हैं।

यहाँ राजकोट में श्रावकों के कुछ घर तो ठीक हैं परन्तु कुछ घर अत्यंत गंदे हैं। जब मैं श्रावकों के गंदे घर देखता हूँ तो सोचने लगता हूँ—क्या सच्चे-विवेकी श्रावक का घर गंदा हो सकता है? जो गंदगी फैलाता है वह दोषी नहीं, और जो गंदगी साफ़ करता है वह दोषी कहलाय—नीच गिना जाय! मैं पूछता हूँ—यह कहाँ का अनोखा न्याय है? वास्तव में अहिंसा धर्म को ठीक तरह न समझने के कारण ही घर में गंदगी रहती है। जिनके घरों में आटा, दाल या इसी प्रकार की कोई अन्य खाद्य वस्तु सड़ी-गली पड़ी रहती है, और उसमें जीव-जन्तु उत्पन्न होते

रहते हैं, उन लोगों ने अहिंसा धर्म के मर्म को समझा ही नहीं है। इस कथन में जरा भी अत्युक्ति नहीं है।

जो लोग अपना ही घर साफ़-सुथरा नहीं रख सकते, वे दूसरों के घरों की क्या खाक सफ़ाई करेंगे ?

कुछ लोग कहते हैं—जैनधर्म तो निवृत्ति-प्रधान धर्म है, तब ऐसी प्रवृत्ति में किसलिए पड़ना चाहिए ? बात सही है। जब संसार से निवृत्त हो जाओ, तब निवृत्ति-धर्म का पालन करो, यह उचित ही है, पर जहाँ तक तुम संसार से निवृत्त नहीं हुए हो, प्रवृत्ति में पड़े हुए हो, तहाँ तक पराधीन रहने और परावलम्बन का पोषण करने की आज्ञा जैनधर्म नहीं देता। जैन शास्त्र यह नहीं बतलाता कि तुम प्रवृत्ति में पड़े रह कर भी पराधीन बनो। इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। जैनधर्म निवृत्ति-प्रधान तो है पर एकान्त निवृत्ति रूप नहीं है। जो प्रवृत्ति, निवृत्ति में साधक हो और बाधक न हो, उसका जैनधर्म में एकान्त निषेध नहीं है। जैनधर्म अनेकान्त-पोषक धर्म है।

भगवान् महावीर ने गृहस्थधर्म का जो विधान किया है, उसके अनुसार आचरण करने से गृहस्थ के घर में अशुचि या अपवित्रता को अवकाश ही नहीं है। पर आज-कल कुछ लोग, गृहस्थ होते हुए भी सूक्ष्म हिंसा का गहरा विचार तो करते हैं, पर परम्परा से होने वाली स्थूल-हिंसा की ओर ध्यान भी नहीं देते। जो स्थूल-हिंसा परम्परा से मनुष्य-हिंसा तक का रूप धारण कर लेती है, उसे जब सरकारी कानून से बाध्य होकर मानते ही हो

तो क्या यह बेहतर न होगा कि उसे धर्म का कानून समझ कर मानो ? स्वेच्छा से अहिंसा का पालन करना क्या श्रेष्ठतर नहीं है ?

मघा ने युवकों से कहा—'अगर आप निखालिश दिल से मेरे शिष्य बनना चाहते हैं तो आपको मेरी आज्ञा का अनुसरण करना होगा। आप यह स्वीकार करते हैं ?'

युवकों ने अपनी हार्दिक स्वीकृति जताई।

———

जन-सेवा

(२)
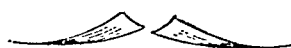
प्रार्थना

अरहनाथ अविनाशी, शिव-सुख लीधो ।
विमल विज्ञान विलासी, साहब सीधो ॥ १ ॥

तू चेतन भज अरहनाथ ने, ते प्रभु त्रिभुवनराया;
तात 'सुदर्शन' 'देवी' माता, तेहनो नंद कहाया ॥
साहब०

श्री अरहनाथ भगवान की यह प्रार्थना है। जो लोग परमात्मा की प्रार्थना में श्रद्धा रखते हैं और जो प्रार्थना की शक्ति को स्वीकार करते हैं, उनके लिए प्रार्थना एक अपूर्व वस्तु है। प्रार्थना विश्वास की वस्तु है। उस पर यदि विश्वास रक्खा जाय तो उससे अपूर्व वस्तु की प्राप्ति होती है। यदि प्रार्थना में विश्वास न हुआ तो वही एक प्रकार का ढोंग बन जाती है। उससे फिर अपूर्व वस्तु की प्राप्ति होना संभव नहीं है। कल्प-वृक्ष में कौन-सी

वस्तु नहीं रही हुई है ? उसमें रहती तो सभी वस्तुएँ हैं पर नजर एक भी नहीं आती। फिर भी कल्प-वृक्ष के नीचे बैठकर जिस वस्तु की कल्पना की जाती है, वही वस्तु मिल जाती है। इस प्रकार कल्प-वृक्ष स्वयं कल्पना (चिन्ता) के आधार से वस्तु प्रदान करता है। यदि कल्पना न की जाय तो उस वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार परमात्मा की प्रार्थना में निहित शक्ति भले ही दृष्टिगोचर न हो, पर यदि उस पर विश्वास किया जाय तो उससे समस्त मनोरथ पूरे हो सकते हैं। यही कारण है कि ज्ञानी-जन परमात्मा की प्रार्थना के सामने कल्प-वृक्ष या चिन्तामणि रत्न की भी परवाह नहीं करते। उनकी दृष्टि में परमात्मा की प्रार्थना के मुकाबिले उसकी कुछ भी कीमत नहीं है। जब हमारे भीतर परमात्मा की प्रार्थना पर ऐसा प्रगाढ़ विश्वास पैदा हो जायगा और प्रार्थना के सामने कल्प-वृक्ष और चिन्तामणि भी तुच्छ प्रतीत होने लगेंगे, तब हमें स्पष्ट मालूम हो जायगा कि परमात्मा की प्रार्थना में कैसी अद्भुत शक्ति विद्यमान है। अतः परमात्मा की प्रार्थना में दृढ़ विश्वास रक्खो। हाँ, एक बात स्मरण रखनी चाहिए और वह यह है कि जब किसी सांसारिक पदार्थ की इच्छा को पूर्ण करने के लिए परमात्मा की प्रार्थना की जाती है, तब वह सच्ची प्रार्थना नहीं वरन् ऊपरी ढोंग बन जाती है। इस विषय में भक्त केशवलाल ने ठीक ही कहा है—'परमात्मा की प्रार्थना में पन्द्रह आना मन लगा हो और केवल एक आना मन किसी सांसारिक पदार्थ की पूर्ति में लगा हो, तो वह प्रार्थना भी ढोंग रूप ही है।'

कहा जा सकता है कि किसी वस्तु की आवश्यकता को पूर्ण

करने के लिए अथवा किसी कष्ट को निवारण करने के लिए परमात्मा की प्रार्थना का उपाय किया जाय तो क्या बुरा है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, जब किसी वस्तु की आवश्यकता खड़ी हो या कोई संकट सिर पर आ पड़े तो इस प्रकार विचार करना चाहिए :— परमात्मा की प्रार्थना न करने के कारण ही ऐसी अवस्था उत्पन्न हुई है। इसीलिए मुझे परमात्मा की प्रार्थना में अपना मन लीन रखना चाहिए।

इस प्रकार सिर पर आये हुए संकट को प्रार्थना में प्रवृत्त होने का साधन बना लेना चाहिए। जब निष्काम-भावना से तुम परमात्मा की प्रार्थना में तन्मय होना सीख लोगे, तो संकट स्वयमेव तुम से दूर भागते फिरेंगे।

किसान को घास और भूसे की भी आवश्यकता पड़ती है, पर वह घास-भूसे के ही लिए खेती नहीं करता। उसका उद्देश्य तो धान्य की प्राप्ति करना होता है। फिर भी धान्य के साथ घास-भूसा भी आनुषंगिक रूप में उसे मिल ही जाता है। इसी प्रकार परमात्मा की प्रार्थना करते समय ऐसा विचार करना चाहिए कि ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए मैं प्रार्थना करता हूँ; क्योंकि प्रार्थना द्वारा भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने में ही आत्मा का कल्याण समाया हुआ है। इस प्रकार की उन्नत भावना रखने से अन्न के साथ जैसे घास-भूसा आप ही मिल जाता है, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थ भी अनायास ही मिल जाते हैं। लेकिन संसार की समस्त वस्तुओं को पा लेने की अपेक्षा आत्मा का कल्याण-साधन श्रेष्ठतर है। अतएव आत्मिक निर्मलता के लक्ष्य

से ही परमात्मा की प्रार्थना करनी चाहिए। अगर प्रार्थना द्वारा आत्मा का हित-साधन हो सकता है तो तुच्छ चीजों को पाने के लिए उस प्रार्थना का उपयोग करना, चने के बदले रत्न देने के समान मूर्खता है। आत्म-कल्याण की अभिलाषा रखने वालों को ऐसी मूर्खता कदापि नहीं करनी चाहिए।

परमात्मा की प्रार्थना, किसी भी स्थान पर और किसी भी परिस्थिति में की जा सकती है। पर प्रार्थना में आत्म-समर्पण की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। प्रार्थना करने वाला अपनी व्यक्तिगत सत्ता को भूल जाता है। वह परमात्मा के साथ अपना तादात्म्य-सा स्थापित कर लेता है। वस्तुतः आत्मोत्सर्ग के बिना सच्ची प्रार्थना नहीं हो सकती। इसीलिए भक्त-जन कहते हैं—

तन धन प्राण समर्पी प्रभु ने, इन पर वेगि रिझास्यां राज।

अर्थात्—परमात्मा की प्रार्थना करते मैं तन, धन और प्राण भी अर्पण कर दूंगा।

इस परम उज्ज्वल भावना के साथ तुम भी परमात्मा की प्रार्थना करो तो निस्सन्देह तुम्हारी आत्मा का कल्याण होगा। परमात्मा की प्रार्थना एक ऐसी वस्तु है जो सब को, सब समय में सुलभ है। अतएव हमें इस सुलभ वस्तु का सदुपयोग कर लेना चाहिए और अपने जीवन में ताने-वाने की तरह बुन लेना चाहिए। ऐसा करने से जल्दी हो या देर से, पर आत्म-जागृति अवश्य होगी।

जब कोई मनुष्य तीन या चार बजे उठने का दृढ़ निश्चय

करके सोता है तो, भले ही वह देरी से सोए, फिर भी निश्चित समय पर वह जाग जाता है। यह अनुभव तुमने भी कभी किया होगा। हममें ऐसी कौन-सी शक्ति है जो भर नींद में भी नियत समय पर हमें जगा देती है! आत्मा की इस शक्ति को जागृत करने के लिए दृढ़ निश्चय पूर्वक परमात्मा की इस प्रकार प्रार्थना करोः—

क्रोड़ जतन करता नहीं पामे, ऐवी मोटी माम।
ते जिन-भक्ति करीने लहिए, मुक्ति अमोलक धाम॥

अर्थात—जो मुक्ति अन्य अनेक उपाय करने पर भी प्राप्त नहीं होती, वह परमात्मा की प्रार्थना द्वारा प्राप्त हो सकती है।

जिन्हें ऐसी बातों पर श्रद्धा ही नहीं है उनके लिए यह बात निरर्थक हो सकती है, पर जो प्रार्थना में निश्चल श्रद्धा रखते हैं उनके लिए यह सोलह आने सत्य है।

'परमात्मा की प्रार्थना करने से आत्म-शुद्धि होती है', यह कथन तो तभी ठीक हो सकता है, जब परमात्मा की सत्ता की प्रतीति हो जाय। पर उसकी प्रतीति किस प्रकार हो सकती है? परमात्मा तो अगम्य और इन्द्रिय तथा मन से भी अगोचर है। ऐसी अवस्था में उसका अस्तित्व कैसे समझा जा सकता है? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करने के लिए मैं स्वानुभव की एक बात बताता हूँ।

जिस प्रान्त में मेरा जन्म हुआ, उसमें खूब वर्षा होती है। वहाँ वर्षा ऋतु में आकाश बादलों से प्रायः सदैव ढँका रहता है। कभी-कभी तो यह जानना कठिन हो जाता है कि सूर्य अस्त हो

गया या नहीं ? किन्तु पोयरणा का फूल देखकर मालूम किया जा सकता था कि सूर्य अस्त हो गया है। उस प्रान्त (मालवा) में पोयरणा नामक एक प्रकार का फूल होता है। वह फूल सूर्य के उदय होने पर खिलता है और अस्त होते ही मुरझा जाता है। अतएव उसके खिलने और मुरझाने से सूर्य के उदय-अस्त का अनुमान किया जाता है।

यहाँ विचारणीय बात तो यह है कि एक फूल को तो सूर्य के उदय और अस्त का भान हो जाता है और हम जैसे मनुष्यों को उसका पता तक नहीं चल पाता; यह हमारी कितनी बड़ी अपूर्णता है ? एक साधारण फूल उदय-अस्त को जान लेता है तो क्या हम लोग न जान पाते होंगे ? जान तो जरूर लेते होंगे, पर संसार की दूसरी अनेक झंझटों में पड़े रहने के कारण वह जानी-समझी हुई बात भी भुला दी जाती है। हमारा ध्यान जब दूसरी ओर अति-अधिक व्याप्त रहता है तब अपने शरीर पर लगी हुई चोट को भी हम भूले रहते हैं। यही कारण है कि हमें ऐसे प्रश्न पूछने पड़ते हैं कि हमें परमात्मा की प्रतीति किस प्रकार हो सकती है ? वास्तव में ऐसे प्रश्नों के उद्भव का कारण आत्मा में विद्यमान शक्ति का अज्ञान है। परमात्मा की प्रतीति करने के लिए आत्मा की शक्ति को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्न करने पर भी अगर परमात्मा की प्रतीति और अनुभूति न हो तो, जैसे पोयरणा के फूल से सूर्य के उदय-अस्त का पता लगाया जाता है, उसी प्रकार अपनी विशिष्ट आत्म-शक्ति द्वारा परमात्मा की अनुभूति करने वाले महात्मा पुरुषों के कथनानुसार आत्म-शक्ति

सम्पादन कर परमात्मा को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। तुम्हें प्रतिदिन आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक बातें इसीलिए सुनाई जाती हैं कि तुम परमात्मा की अनुभूति कर सको।

कुछ लोगों की यह भ्रमपूर्ण धारणा है कि अगर वे आध्यात्मिकता में पड़ जायँगे तो उनका व्यवहार उलट जायगा। पर वास्तव में यह मान्यता भूल-भरी है।

आध्यात्मिकता का आश्रय लेने से तुम्हारा व्यवहार कदापि नहीं बिगड़ सकता। हाँ, एक बात अवश्य है। आज व्यवहार के नाम पर तुम जो धमाचौकड़ी मचाते हो, उसे फिर तुम्हारे व्यवहार में स्थान न मिल सकेगा। रोटी पकाते समय अग्नि इतनी अधिक तेज नहीं रक्खी जाती कि रोटी जलकर राख हो जाय। साथ ही इतनी मंद भी नहीं रक्खी जाती कि रोटी सिकने ही न पाए। उस समय आग ऐसी मध्यम कोटि की रक्खी जाती है कि रोटी न तो जल सके, न कच्ची बनी रहे। इसी प्रकार आध्यात्मिकता को जीवन में स्थान दिया जाय, तो जीवन-व्यवहार ऐसे मध्यम मार्ग पर व्यवस्थित रूप से चलता है कि न तो जीवन में छैला की तरह उड़ाऊगीरी आने पाती है, न कृपण के समान कृपणता को ही स्थान मिल पाता है। उस अवस्था में जीवन मध्यम स्थिति में रहता है। अतएव इस भ्रम को निकाल डालना चाहिए कि जीवन-व्यवहार में आध्यात्मिकता को स्थान देने से जीवन-व्यवहार ठीक तरह नहीं निभता। आजकल कुछ लोग आध्यात्मिकता की ओट में कृपण बन जाते हैं। जो लोग तुच्छ और नगण्य वस्तु के भी ममत्व का परित्याग नहीं कर सकते, जिन्हें दिन-रात का और

भक्ष्य-अभक्ष्य तक का विवेक नहीं और जो आध्यात्मिकता की ओट में कृपणता का सेवन कर रहे हैं, कहना चाहिए कि वे लोग आध्यात्मिकता को वदनाम कर रहे ।

आध्यात्मिकता कोई साधारण वस्तु नहीं है। गीता में आध्यात्मिकता को सब विद्याओं में प्रथम स्थान दिया गया है। जहाँ दूसरे के कल्याण के लिए छोटी-सी वस्तु का भी त्याग नहीं किया जा सकता, वहाँ भला आध्यात्मिकता कैसे निभ सकती है ? जहाँ लोभ-दशा है वहाँ आध्यात्मिकता को स्थान नहीं मिल सकता । आध्यात्मिकता का स्थान वहाँ है जहाँ पर-कल्याण के लिये प्राणों का उत्सर्ग करने में भी आनाकानी नहीं होती। राजा मेघरथ ने कबूतर की रक्षा के लिये शरीर-त्याग किया था। क्या उसमें आध्यात्मिकता नहीं थी ? निस्सन्देह मेघरथ में आध्यात्मिकता थी और इसी कारण उसने पर-कल्याण के लिये शरीर का त्याग किया था। उसे भलीभाँति ज्ञात था कि परोपकार के लिये आत्मसमर्पण करना ही सच्ची आध्यात्मिकता है। इससे यह स्पष्ट है कि जो अध्यात्म-निष्ठ होता है वह दूसरों के हित में अपना हित मानता है। पर-हित में स्वहित किस प्रकार समाया रहता है, इस वात को समझने के लिये मघा का वृत्तान्त वतलाया जाता है:—

मघा ने प्रकृति से यह पाठ सीखा था कि जो वात मुझे अनुकूल हो, वही दूसरों के लिए करनी चाहिए। भूतकाल और वर्त्तमान काल के अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रकृति की पाठशाला में जैसी सजीव शिक्षा मिल सकती है, वैसी

अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती। ज्ञानियों ने विश्व को पुरुषाकार बतलाया है। अगर पुरुष की आकृति वाले इस विश्व का ध्यान किया जाय, तो आत्मा को अपूर्व आनंद की प्राप्ति होती है।

प्रकृति के रहस्य का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो उसमें से आत्मा अपूर्व शिक्षा ग्रहण कर सकता है। छोटे-से फूल की पाँखड़ी में कौन-सा तत्व समाया हुआ है, उसकी किस प्रकार की रचना है और उससे हम क्या सीख सकते हैं, इस प्रकार यदि गहरा विचार किया जाय तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहेगा।

बड़े-बड़े कुशल कारीगर विशाल और सुन्दर प्रासाद के निर्माण में जिस कौशल को अभिव्यक्त करते हैं, उनका वह कौशल भी फूल की पाँखड़ी की रचना की रमणीयता के सामने पानी भरता है।

मघा प्रकृति की शिक्षा के अनुसार कार्य करने लगा। वह अड़ौस-पड़ौस वालों का आँगन भी साफ कर डालता और गाँव के गली-कूचे भी। गली की अनेक स्त्रियाँ मघा के इस कार्य की निन्दा करके ही नहीं अघाती थीं, वरन् उसके काम में बाधा पहुँचाने के उद्देश्य से साफ की हुई जगह में कूड़ा-कचरा बिखेर देती थीं। यह सब होने पर भी मघा सदैव एक-सा प्रसन्न-चित्त रहता और प्रसन्नता के साथ गंदी जगह को दुबारा झाड़ देता था। वह सोचता—मेरी यह बहिनें मुझ पर बड़ा ऐहसान कर रही हैं—मेरा उपकार कर रही हैं, जो घर के भीतर सड़ते हुए कचरे को बाहर फैंक कर मेरे कार्य में सहायता पहुँचा रही हैं।

जब तुम्हें कोई गाली दे तो तुम्हें भी ऐसा उज्ज्वल विचार

करना चाहिए कि, इसके मुँह में गाली की जो गंदगी भरी थी, वह बाहर आ गई; यह बहुत अच्छा हुआ। इतने अंश में गाली देने वाले का मुँह शुद्ध हो गया, यह मेरे लिए प्रसन्नता की बात है।

किसान खाद के रूप में गंदगी का सदुपयोग कर लेते हैं और उससे उत्तम उपज होती है। इसी प्रकार तुम भी आत्म-कल्याण के रूप में गालियों का सदुपयोग कर सकते हो।

निन्दा से घबराना मघा ने सीखा ही नहीं था। वह हमेशा अपने नियत कार्य में तन्मय रहता था। मघा की यह कार्य-प्रणाली देख दोनों युवक उसके शिष्य बनने को तैयार हुए। मघा ने उनसे कह दिया—मेरे पास खाने-पीने को कुछ भी नहीं है। हाँ, मेरे साथ काम करने में तुम्हें लोक-निन्दा का और गालियों का प्रसाद अवश्य मिलेगा और वह प्रसाद तुम्हें समताभाव से भोगना होगा। क्या तुम मेरे शिष्य बनकर निन्दा और गालियों का उपहार प्रेम-पूर्वक स्वीकार करने के लिए तैयार हो ?

मघा का यह कथन सुन दोनों युवक आपस में कहने लगे—'गुरु हो तो ऐसा हो, जो चेला मूंडने के लिये दूसरे को झूठे प्रलोभन में न डाले।' इस प्रकार विचार कर दोनों ने मघा से कहा—'आपका स्पष्ट कथन सुनकर शिष्य बनने की हमारी भावना अधिक बलवती हो गई है। कृपा कर अब हमें गुरु-मंत्र सुनाइए और दीक्षा दीजिए।'

मघा ने कहा—'भाइयो, मैं पढ़ा-लिखा तो हूँ नहीं, फिर तुम्हें क्या गुरु-मंत्र सुनाऊँ !'

युवक— 'पढ़े-लिखों के मंत्र तो हमने बहुत वार सुने हैं। उन्हें सुनते-सुनते ऊबसे गये हैं। अब हमें आप सरीखे कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति का मंत्र सुनने की उत्सुकता है। अतः अपने कर्त्तव्य का मंत्र हमें सुनाइए। बताइए, आपका शिष्य बन जाने पर हमें क्या कार्य करना होगा ? हम आपको यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि आपका कर्त्तव्य–मंत्र ही अन्त तक हमारा जीवन मंत्र होगा।'

मघा—सुनो ! तुम्हें जो कुछ करना होगा वह बतलाता हूँ। यद्यपि मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, मगर प्रकृति से मैंने यह शिक्षा ली है कि—'जो काम अपने लिए अनुकूल हो वह दूसरों के लिए करना चाहिए और जो अपने लिए प्रतिकूल हो वह दूसरों के लिए भी नहीं करना चाहिए।' संक्षेप में तुम्हें यह करना होगा:—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन:

—गीता

अर्थात्—जो अपने लिए प्रियकर है वह दूसरों के लिए करना चाहिये। इस उपमा प्रमाण से प्रत्येक कार्य करना चाहिए, यही ज्ञानियों का कथन है।

मघा बोला—प्रकृति से मैंने यह पाठ सीखा है। मुझे लगा—साफ़-सुथरा रास्ता मुझे पसंद है तो दूसरे लोग रास्ता साफ करें और मैं उस पर चलूं, इसकी अपेक्षा क्या यही संगत और समुचित न होगा कि मैं स्वयं रास्ता साफ़ करूं ! 'जो बात अपने लिए अनुकूल हो वह दूसरों के लिए भी करना' यह मेरी पहली

शिक्षा है। और 'संसार के समस्त प्राणियों को अपने समान ही समझना' यह मेरी दूसरी शिक्षा है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि अपने लिए तो पाँच-पाँच दस गिने और जब दूसरों की बारी आवे तो ग्यारह गिनने लगे ! ऐसा करने वाला आत्म-वंचना तो करता ही है, साथ ही विश्वासघात भी करता है और अपनी आत्मा को अपराधी बनाता है। इसलिए जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो वैसा ही तुम दूसरों से करो। इसके अतिरिक्त अनिच्छनीय प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। दूसरों पर जोर-जबर्दस्ती करने से उन्हें कष्ट पहुँचता है। इसलिये ऐसी खराब प्रवृत्तियों से सदा बचते रहना। मान लो, तुम्हारे पास दो कोट हैं। उनमें से एक फालतू है। अगर तुम्हारे सामने कोई गरीब आदमी सख्त सर्दी का मारा थर-थर काँप रहा हो, तो अपना फालतू कोट उसे दे देने की इच्छा तुम्हारे अन्तःकरण में उत्पन्न होनी चाहिए। अगर तुम इस अवस्था में उसे अपना कोट नहीं दे सकते, तो यह समझा जायगा कि तुम अब तक परायी पीड़ा को पहचान नहीं पाये हो। भोजन से तुम्हारा पेट ठसाठस भर गया हो, फिर भी बची हुई रोटी किसी गरीब को दे देने की भावना तुम्हारे हृदय में पैदा न हुई और रोटी सैंक कर या सुखा रखकर दूसरे दिन खाने की तृष्णा बनी रही, तो माना जायगा कि अभी तुम दूसरे की आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझने में समर्थ नहीं हो सके हो।

मघा ने युवकों से कहा—अगर तुम मेरे शिष्य बनना चाहते हो तो तुम्हें समस्त प्राणियों को आत्मा-तुल्य समझना होगा। इतना ही नहीं, तुम्हें सब प्रकार के दुर्व्यसनों से भी दूर रहना

होगा, क्योंकि व्यसन के नशे में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भान नहीं रहता। अतएव सब प्रकार के मादक पदार्थों से तुम्हें बचना होगा। जो पदार्थ बुद्धि को भ्रष्ट करते हैं, वे सब मादक पदार्थ हैं। कहा भी है:—

बुद्धि लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।

जिन पदार्थों को सूंघने से, खाने से, पीने से बुद्धि भ्रष्ट या नष्ट होती है, वे सब मादक द्रव्य हैं। मादक कहे जाने वाले पदार्थों में ही मद हो, सो बात नहीं है; हृदय की भावना में भी मद होता है। ग्रन्थों में रावण को हजार विद्या वाला बतलाया गया है, फिर भी वह सीता को देखकर बे-भान हो गया। इस प्रकार भान भूल जाना हृदय का मद है। हृदय के इस मद से बचना अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता है, पर तुम्हें इस मद से भी हमेशा बचते रहना होगा।

आजकल के युवकों में कितने ही ऐसे निकलेंगे जो पर-स्त्री को देखकर भान भूल जाते हैं। यही नहीं, राजा और महन्त कहलाने वाले भी बेभान हो रहे हैं। कथन का समर्थन करने के लिए उदाहरणों की कमी नहीं है।

मघा ने युवकों को कर्त्तव्य-बोध कराते हुए कहा—जिन पदार्थों के सेवन से कृत्याकृत्य का भान नष्ट हो जाता हो, ऐसे पदार्थों का सेवन न करना, यह मेरा गुरु-मंत्र है। यह मंत्र उँगलियों के पौरों पर गिनने या जाप करने के लिए नहीं है। इसे अच्छी तरह याद रखकर कार्य-रूप में परिणत करना होगा। मैंने

ह निवृत्ति का मंत्र समझाया है। इसके साथ ही प्रवृत्ति का मंत्र
ी तुम्हें सीखना है। वह मंत्र यह है:—

'तुम्हें स्वामी बनकर नहीं, वरन् सेवक बनकर जन-समाज की
ोवा करनी चाहिए। सेवा करते-करते अगर प्राणों का उत्सर्ग
रना पड़ जाय तो वह भी प्रसन्नता पूर्वक करना चाहिए।'

मघा ने जो शिक्षा बताई है उसमें किसी भी धर्म या दर्शन
ा विरोध नहीं हो सकता। जो व्यक्ति अपना जीवन-व्यवहार इस
शिक्षा के अनुसार चलाता है, वह निस्सन्देह स्व-पर कल्याण कर
सकता है।

मघा की इन तात्विक बातों को सुनकर युवक कहने लगे—
ईश्वर कहाँ है, यह सोचते-सोचते हम थक गये, पर अब जान
पड़ता है, वह आपके भीतर विराजमान है। आपके निर्मल अन्तः-
करण में जिन उदार भावों का वास है, उन भावों में ईश्वर का
दिव्य दर्शन हो रहा है।'

तुम भ्रमण के लिए भले ही मक्का, मदीना, काशी या शत्रुं-
जय जाओ, पर अगर हृदय के शुद्ध भावों की ओर दृष्टि फेरोगे
तो वहाँ जाना निरर्थक जान पड़ेगा। हृदय में शुद्ध भावना को
स्थान देना और सेवा को अपने जीवन का आदर्श बनाना, किसी
भी तीर्थ से कम पवित्र नहीं है। जैसे सूर्यमुखी फूल द्वारा सूर्य के
उदय-अस्त का पता चल जाता है, उसी प्रकार हृदय की भावनाओं
से यह मालूम हो जाता है कि अपने हृदय में ईश्वर बसता है या
नहीं! कदाचित् तुम्हें अपनी आत्मा की और परमात्मा की प्रतीति

न होती हो तो, विशुद्ध भावनाओं के रंग में रँगे हुए, शृंगार से सर्वथा हीन किसी अस्थि-पिञ्जर को (किसी कृशकाय महात्मा को) देखो। तब तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि विशुद्ध भावनाओं में ही ईश्वर का निवास है।

मघा के दिल की बातें सुनकर दोनों युवक आश्चर्य के साथ आनन्द का अनुभव करने लगे। मघा के पैरों पड़कर, गद्गद होकर बोले—'हमारे सिर पर आशीर्वाद का हाथ रखिए। हम लोग आपके शिष्य बनना चाहते हैं। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि हमारी प्रवृत्ति आपके आदेश के अनुसार ही होगी।'

मघा खड़ा हुआ। दोनों को छाती से लगाया और अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया। इस प्रकार मघा को दो मिले और मघा अब षट्-भुज (छह भुजा वाला) हो गया।

ईश्वर का चतुर्भुज रूप माना जाता है। तुम भी विवाह-बन्धन में बँधकर चतुर्भुज कहलाते हो। पर तुम वास्तव में चतुर्भुज हो या चतुष्पद, यह भगवान् ही जाने। जो सच्चे स्त्री-पुरुष होंगे, वे चतुर्भुज बनकर आत्म-कल्याण के साथ-साथ जगत् का भी कल्याण करेंगे।

मघा को दो साथी मिले, पर इससे वह जरा भी आलसी न बना। वह अब पहले से भी अधिक काम करता था। उसे यह भली भाँति ज्ञात था कि मैं जैसा व्यवहार करूँगा, मेरे शिष्य भी मेरा अनुकरण करके वैसा ही व्यवहार करेंगे। ऐसा विचार कर वह आदर्श कार्य करता था। वह बहुत बार सोचा करता—'हे प्रभो! इन युवकों के अन्तःकरण में किसने प्रकाश की किरणें भरी हैं कि

ये मेरे साथी बन गये हैं ? दयाधन ! जान पड़ता है, यह तुम्हारे असीम अनुग्रह का ही परिणाम है।'

कुछ दिनों बाद पहले वाले दो युवकों की तरह तीस युवक और मघा के शिष्य बन गये। अब कुल बत्तीस शिष्य और एक स्वयं, इस प्रकार तेतीस जने हो गये। मघा सुबह में तड़के ही उठ बैठता। अपने शिष्यों के साथ पहले परमात्मा की प्रार्थना करता और फिर दिन भर के काम का बँटवारा कर देता। वह किसी को कहता—तुम शराबियों से अनुनय-विनय करके, शराब पीने की हानियाँ समझा कर, उन्हें शराब पीने से रोकना। किसी को गाँव के दीन-दुखियों और रोगियों की सार-सँभाल का काम सौंपता, किसी को गाँव के रास्ते साफ करने का और किसी को जनता का हित करने वाली शिक्षा देने का काम सौंपता था।

मघा कौन कार्य, किस प्रकार करता था, यह सब बातें व्याख्यान में नहीं कही जा सकतीं। वाणी में इतना सामर्थ्य ही नहीं है कि उसका सहारा लेकर सब बातें भली भाँति समझाई जा सकें। केवल-ज्ञानी अपने ज्ञान से जितना जानते हैं, उसका अनन्तवाँ भाग ही भाषा द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। तब सामान्य जन का कहना ही क्या है ! निष्काम भाव और हृदय की सच्ची लगन से किये जाने वाले कार्य का प्रभाव बिना पड़े नहीं रहता। मघा की निष्काम भावना के कारण गाँव भर में एक भी शराबी वेश्यागामी और चोर न रहा।

उस समय चाय-बीड़ी का प्रचार नहीं था, अतएव मघा को इस संबंध में सुधार करने की आवश्यकता ही न पड़ी। पर आज-

कल चाय-बीड़ी का प्रचार बहुत अधिक हो गया है। पहले के श्रीमान् में और आधुनिक श्रीमान् में बहुत अन्तर पड़ गया है। पहले की श्रीमन्ताई कुछ और थी, और आज की श्रीमन्ताई कुछ निराले ही ढँग की है। प्राचीन काल के श्रीमान् अपने घर पर गायें-भैंसें पालते थे। वे स्वयं उनका दूध-घी खाते थे और दूसरों को भी उससे लाभ पहुँचता था। दूसरों को कदाचित् दूध-दही न मिलता तो भी छाछ तो चाहे-जिसे मिल ही जाती थी। पर आज के श्रीमानों के घर चाय के प्याले सजे रहते हैं। इस अवस्था में दूसरे लोग उनसे क्या लाभ उठा सकते हैं? चाय के प्याले दूसरों को लाभ नहीं पहुँचाते सो न सही, पर स्वयं पीने वालों को भी तो लाभ नहीं पहुँचाते, उल्टे शारीरिक हानि उत्पन्न करते हैं। इसका परिणाम होता है, डाक्टर की शरण लेना। आज के श्रीमान् दूसरों की सेवा करना भूल गये हैं। वे लोग बँगले में रहने और मोटरों पर सवार होकर चलने फिरने में ही अपनी श्रीमन्ताई समझते हैं। गाय-भैंस पालने से मच्छर बढ़ते हैं, अतएव बाजारू दूध खरीद लेने में ही अपना बड़प्पन मानते हैं। पर उन्हें यह नहीं सूझता कि अगर गाय-भैंस पालने से ही मच्छर होते हैं तो उनके बँगले में गाय न रखने पर भी मच्छर कहाँ से आ पहुँचते हैं? अगर तुम सच्चे श्रीमन्त हो तो अपनी श्रीमन्ताई का दूसरे की सेवा करने में उपयोग करो। यह नहीं हो सकता तो तुम्हारी श्रीमन्ताई घोड़े की पूंछ के समान किस मतलब की है? बड़े-बड़े शानदार बँगले बनवाने में, चार कुत्ते पालने में, या मोटर गाड़ी रखने में और उसे चारों ओर फिरा कर लोगों पर धूल उड़ाने में भले ही आज तुम्हें श्रीमन्त

दीखती हो, पर ज्ञानियों की दृष्टि में वह सच्ची श्रीमन्ताई नहीं है। जो जन-समाज की अधिक से अधिक सेवा करते हैं वही सच्चे श्रीमंत हैं और उनकी सच्ची श्रीमन्ताई जगत् के लिये हितकारक है।

मघा के सतत प्रयास से उस गाँव में से मदिरा, परस्त्री-गमन और चोरी आदि के भूत भाग गये। मघा ने उस गाँव के निवासियों को यह भी सिखाया—तुम इतना अधिक खर्च मत रक्खो जिससे तुम्हें कर्ज लेना पड़े। आय के परिमाण में व्यय करो। अनिवार्य आवश्यकता के समय कर्ज लेना पड़े तो उसे नियत समय से पहले ही चुका डालो। अगर कर्ज सिर पर चढ़ा लोगे और समय पर चुक न सकेगा तो लेनदार तुम पर दावा करेगा। इसमें तुम्हारा पतन है। इस प्रकार लोगों के घर-घर जाकर मघा ने यथासमय कर्ज चुका देने के लाभ और न चुकाने के नुकसान उन्हें समझाये। इससे वहाँ के लोग अपने वश भर प्रथम तो ऋण लेते ही न थे, कदाचित् लेना भी पड़ता तो नियत समय से पहले ही चुका देते थे। इससे किसी को किसी पर दावा करने का अवसर ही नहीं मिल पाता था। इसके अतिरिक्त लोगों में आपस में कभी कोई रगड़ा-झगड़ा हो जाता, तो मघा या उसके शिष्य बीच-बचाव कर देते थे। अब मघा पर लोगों की आस्था बढ़ चली थी और लोग उसका कहना मानने लगे थे।

इस प्रकार मघा ने और उसके शिष्यों ने अपना जीवन लोक-सेवा के लिए समर्पित कर दिया। लोग भी उनके कार्य में सहायता पहुँचाने लगे। गाँव में इतनी अधिक शान्ति और अमन-

चैन फैल गया कि जो लोग गाँव छोड़कर दूसरी जगह जा बसे थे वे भी लौटने लगे। पहले पुरुष, स्त्रियों को बहुत कष्ट देते थे पर मघा के उपदेश से स्त्रियों ने भी शान्ति का श्वास लिया। जो स्त्रियाँ पहले मघा के काम में रोड़ा अटकाती थीं, वही अब मघा को आसीस देने लगीं और अपने किये पर पछताने लगीं। वे कहतीं—'हम तो मघा की साफ की हुई जगह में कचरा बिखेर देती थीं, पर वह चुपचाप उसे उठा ले जाता था। मघा ने बाहर का ही कचरा साफ नहीं किया है किन्तु हमारे हृदय का कचरा भी साफ कर दिया है। परमात्मा इस पुण्यजीवी मघा को चिरायु करें।'

इस प्रकार मघा के लिए लोग परमात्मा से प्रार्थना करते और प्रभात में उसके दर्शन करने आते थे। पर मघा अपनी कीर्ति से फूल जाने वाला व्यक्ति न था। वह तो सदा की भाँति अपने काम में लीन रहता था। उसके पास इतना समय ही न था कि लोगों को दर्शन देने के लिए वह कहीं एक जगह बैठा रहता। लोग जब उसके दर्शन करने आते तो वह यही कहता—आप लोग अपने घर-द्वार को और हृदय को साफ-स्वच्छ रखिए, यही मेरा सच्चा दर्शन है।

यह तो मुझे भी कहना पड़ेगा कि यहाँ की जनता मालवा, मेवाड़ और मारवाड़ की जनता की अपेक्षा घर और अन्य वस्तुओं को अधिक साफ-सुथरा रखती है। पर साथ ही यह भी कहना होगा कि तुम घर की तरह गलियों को साफ नहीं रखते। गलियों में बेहद गंदगी रहती है। जूता पहनने के कारण संभव है

तुम्हें गलियों की गंदगी का पूरा ख्याल न आता हो, पर हम जूते नहीं पहनते इस कारण हमें गंदगी की अधिकता का खूब अनुभव होता है। शास्त्र में कहा है—अशुचि में चलने से हिंसा होती है। दूसरे लोग भी अशुचि को अस्पृश्य ही मानते हैं। अगर तुम श्रावक होकर भी अपने घर का कचरा गली के नाके पर बिखेर देते और गंदगी को बढ़ाते हो, तो कहना चाहिए कि तुमने अब तक यह नहीं समझ पाया है कि गुरु की सेवा किस प्रकार करनी चाहिए !

मघा की सत्प्रवृत्ति से लोगों में अपूर्व शान्ति फैल गई। इस कारण मघा सब का प्रेम-पात्र बन गया। पर उस गाँव में तीन प्रकार के पुरुष ऐसे थे जिन्हें मघा अप्रिय ही नहीं वरन् कडुआ ज़हर-सा लगता था। वे यह थे—शराब बेचने वाले, वेश्याएँ और कचहरी के राजकर्मचारी। ये लोग मघा की सत्प्रवृत्ति से बहुत नाराज रहते थे। शराब की बिक्री एकदम बंद हो जाने के कारण शराब बेचने वाले की आमदनी मारी गई थी। वेश्यागामियों का अभाव हो जाने से वेश्याएँ नाराज़ रहती थीं और झगड़ा-फ़साद न होने के कारण राजकर्मचारी दिन भर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते थे। इस प्रकार ये लोग मघा पर दाँत पीसते रहते थे और किसी उपाय से मघा यहाँ से भाग जाय तो बला टले और हमारा धंधा फिर से चमक उठे, इसी उधेड़-बुन में लगे रहते थे। मघा को गाँव से हटाने के लिए वे प्रयत्न करने लगे।

अच्छा काम करने वाले का भी विरोध करने के लिए कोई-न-कोई खड़ा हो जाता है। जैसे दिन की थकावट दूर करने के

लिए रात की जरूरत है उसी प्रकार सत्कार्य का विरोध करने वालों की भी आवश्यकता है। ज्ञानी-जन इस प्रकार के विरोध से या निंदा से रंच मात्र भी नहीं घबराते; बल्कि विरोध को अपने कार्य का सहायक मानकर दुगुने उत्साह से उसे सफल बनाने में जुट पड़ते हैं। वे संकटों को परमात्मा की प्रार्थना करने का प्रेरक मान कर प्रसन्न होते हैं।

जो महाभाग संकट उपस्थित होने पर परमात्मा की ार्थना का आश्रय लेते हैं, उनके लिए संकट भी सहायक बन जाते हैं। तुम भी शुद्ध चित्त से परमात्मा की प्रार्थना करो तो तुम्हारा कल्याण ही कल्याण होगा।

जन-सेवा

(३)
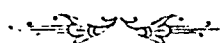
प्रार्थना

मल्लि जिन वाल ब्रह्मचारी, 'कुंभ' पिता 'परभावति' मैया,
तिनकी कुमारी; मल्लि जिन बाल-ब्रह्मचारी ॥ टेक ॥

श्री मल्लिनाथ भगवान् की यह प्रार्थना है। इस प्रार्थना में भगवान् मल्लिनाथ का चरित्र इस प्रकार वताया गया है कि साधारण से साधारण मनुष्य भी सरलतापूर्वक हृदय में उतार कर जीवन-सुधार और आत्म-कल्याण कर सकता है।

इस प्रार्थना द्वारा मेरी भावना को इतना अधिक पोषण मिला है कि इस प्रार्थना के आधार पर ही अगर मैं अपने जीवन की अपूर्णता दूर कर लूं तो फिर मुझे कुछ भी करना शेष न रहे। इस प्रार्थना से मेरी भावना को किस प्रकार पोषण

मिलता है, इस सम्बन्ध में मैं थोड़ा-सा ही कहना चाहता हूँ। एक सिद्ध होता है, एक साधक होता है और एक साधन होता है। आत्म-कल्याण करने के लिए साधक को अनेक साधनों का उपयोग करना पड़ता है और उनके द्वारा वह सिद्धि-लाभ करके सिद्ध बन जाता है। यह बात भगवान् मल्लिनाथ के चरित्र से स्पष्ट ज्ञात हो जाती है।

भगवान् मल्लिनाथ के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा चारों ओर फैली हुई थी। बहुत-से राजाओं ने सुना था कि राजा कुंभ के घर एक सुन्दरी ने जन्म लिया है। अनेक राजा इस रूप-सुन्दरी के साथ विवाह करने के लिए लालायित थे। पर उनमें से भान भूले हुए छह राजा तो यहाँ तक तैयार थे कि यदि राजा कुंभ अपनी कन्या हमें न देंगे, तो हम युद्ध करने से भी न चूकेंगे।

अन्त में जब छहों राजाओं ने एक साथ चढ़ाई कर दी, तो अपने पिता पर आई हुई विपदा को हटाने और राजाओं को प्रतिबोध देने के लिए भगवान् मल्लिनाथ ने जो रचना रची वह इतनी अधिक आकर्षक और विचित्र थी कि उसका सम्पूर्ण महत्व समझ सकना भी संभव नहीं है। भगवान् ने एक पुतली बनाई। देखने में वह हूबहू उन्हीं जैसी थी। पर उसमें एक विशेषता थी। पुतली का मुकुट अगर उतार दिया जाता, तो उसमें से भयानक दुर्गंध फूट पड़ती थी। उस दुर्गंध को सहन करना अत्यन्त कठिन था। मुकुट उतारने से पहले उसमें दुर्गंध का लेश भी प्रतीत नहीं होता था और उसका सौन्दर्य ठीक मल्लिनाथ जैसा दिखाई देता था।

यह रचना रचकर भगवान् मल्लिनाथ ने कहला दिया—'आप एकदम निश्चिन्त रहिए। राजाओं का इलाज मुझ पर छोड़ दीजिए। छहों राजाओं को मुझे देखने के लिए बुला भेजिए।'

छहों राजा अत्यन्त कौतूहल और उत्सुकता के साथ 'मल्लि-कुमारी' को देखने आये। दीपक को देखकर जैसे पतंग मोहित हो जाता है उसी प्रकार प्रस्तुत पुतली देखते ही छहों राजा मुग्ध हो गये।

भगवान् पुतली का भीतरी रूप बताकर उनकी मस्ती को कपूर की तरह उड़ा देना चाहते थे। अतएव उन्होंने पुतली का मुकुट खोल दिया और तत्काल ही चारों ओर घोर दुर्गंध फैल गई। राजाओं के होशहवास गुम हो गये। दुर्गंध से घबरा कर और पुतली की ओर घृणा की नजर से देखते हुए वे बाहर निकलने लगे। भगवान् ने सोचा, इन्हें प्रतिबोध देने के लिए बस यही उपयुक्त अवसर है।

भगवान् की इस रचना पर विचार किया जाय तो जागृति एवं सुषुप्ति अवस्था के विषय में भी बहुत-कुछ जाना जा सकता है। साधारणतया जागृत-अवस्था को बहुत महत्त्व दिया जाता है और सुषुप्त-अवस्था को महत्त्व नहीं दिया जाता। पर एक दिन भी अगर तुम्हें नींद न आवे तो कितना कष्ट होगा? इससे यह स्पष्ट है कि किसी अंश में सुषुप्ति की भी आवश्यकता रहती है। निद्रा में जो कुछ होता है वह सुषुप्ति अवस्था का कार्य है। तुम बाहर की रचना देखते हो, पर अन्दर की रचना कैसी है,

यह नहीं देखते। बाहर जो कुछ दिखलाई पड़ता है वह सब क
का फल है, पर कर्म-फल के पीछे क्या-क्या छिपा है, यह भ
तो तलाशो ! भगवान् ने राजाओं को प्रतिबोध देते हुए कहा—
राजाओ ! आप लोग क्यों विमुख हो गये हैं ? अभी त
आपको जो वस्तु अतिशय प्यारी प्रतीत होती थी वह एकाए
अप्रिय क्यों हो उठी है ? अभी तक आप उसके बाह्य रूप क
ही देख रहे थे, इस कारण उस पर प्राण निछावर कर देने क
तैयार थे। पर भीतरी रूप का परिचय पाते ही आप घृणा के मा
नाक-भौं सिकोड़ने लगे। आप लोग निश्चित समझ रखिए—

महा असार उदारिक देही, पुतली इव प्यारी।
संग किये पटके भव-दुख में, नारि नरक-वारी॥

तुम ऊपरी रूप देखते हो तब बेभान बन जाते हो, पर जब
जरा अन्दर गोता लगाते हो, तो जिस पर मुग्ध हो रहे थे उस से
भी घृणा करने लगते हो !

कल शिलालेख देखते हुए यहाँ का अजायब घर देखा
था। उसमें एक जगह मनुष्य का अस्थि-पिञ्जर रक्खा हुआ है।
उसे देखने से मनुष्य की हड्डियों की रचना का खयाल आ जाता
है। पर क्या हाड़ों का पींजरा देखकर किसी के मन में विकार
उत्पन्न होता है ? किसी में काम-भावना जागृत होती है ? पर
जब वह हाड़ों का पींजरा चमड़ी से ढँका होता है तब विकार
क्यों जाग उठता है ?

संसार के पदार्थ अलग-अलग दृष्टियों से देखे जाने पर

अलग-अलग प्रकार के दिखाई देने लगते हैं। हाड़-पींजरे को देख कर कोई अपना भोजन समझता है, तो कोई उसे अपनी खोज का साधन मानता है। किसी कुत्ते के सामने अस्थि-पिञ्जर रख दिया जाय तो वह अपना भोजन समझ कर खाने लगता है। और वही अस्थि-पिञ्जर किसी डाक्टर के सामने रख दिया जाय तो वह शरीर-रचना संबंधी किसी खोज के लिए उसका उपयोग करता है। ज्ञानी और अज्ञानी के बीच भी इसी प्रकार का अन्तर है। अज्ञानी लोग हाड़-पिंजर का बाहरी रूप देख कर मोहित हो जाते हैं और ज्ञानी-जन, बाहर दिखाई देने वाले रूप के पीछे क्या छिपा है, इस बात का विचार करके वैराग्य-लाभ करते हैं।

छहों राजा भगवान से कहने लगे—हम लोगों ने उस पुतली को पुतली नहीं समझा था। हम उसे साक्षात् मल्लि-कुमारी समझ रहे थे। वह सुवर्ण की पुतली थी, यह तो पीछे पता चल पाया है। आपने हमें बोध देने के लिए ऐसी रचना रची है, यह बात जान कर हमें अपने अज्ञान पर तरस आता है।

अपनी मूर्खता पर राजा लोग जी-भर पछताये। भगवान् ने आश्वासन देते हुए उनसे कहा—'घबराओ मत। अगर तुम्हारी भाँति मैंने भी बाहरी रूप पर ही दृष्टि रक्खी होती और भीतर की खबर न रक्खी होती तो गजब हो जाता। मैंने केवल बाह्य रूप को ही न देख कर अभ्यन्तर रूप का भी ध्यान रक्खा है। इसी कारण मुझे आप पर मोह उत्पन्न नहीं हुआ। जो हुआ सो हुआ। अब आप लोग अपनी आत्मा को जागृत करके आत्म-कल्याण की साधना कीजिए।'

हाँ, इतना दुहरा देना आवश्यक है कि आप बाहरी रूप को देखकर बेभान न बन जाया करें; पर यह देखा करें कि इसके भीतर क्या रचना भरी है ? भगवान् मल्लिनाथ की प्रार्थना करो तो तुम्हारे मिथ्या मोह का भूत भाग जायगा और तुम्हारी आत्मा का कल्याण होगा।

आज प्रातःकालीन भावना भाते समय मुझे विचार आया कि, हम जिनसे सहायता प्राप्त करते हैं उन्हें भूल जाना कैसी गंभीर भूल है ! मैं अन्न के अतिरिक्त दूध आदि पदार्थ ही लेता हूँ। जिन पदार्थों की सहायता से यह शरीर निभ रहा है और जिनके आधार से मैं आत्म-कल्याण कर सकता हूँ, उन प्राणियों के ऋण से मैं कब और कैसे मुक्त हो सकूंगा ? जैसे मुझे अन्य प्राणियों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार क्या तुम्हें सहायता की आवश्यकता नहीं होती ? आवश्यकता होने पर भी अगर तुम उनके ऋण से मुक्त होने के लिए प्रयत्न नहीं करते और फर्नीचर पर पॉलिश लगाने के समान ऊपरी लोक-दिखाऊ काम करते हो, तो क्या यह उचित है ? तुम अपना बंगला साफ रखना चाहते हो पर अगर तुम्हारा शरीर साफ न हुआ तो बँगले की सफाई से क्या होगा ? तुम आलमारी, मेज आदि फर्नीचर को साफ रक्खो, पर शरीर-सुधार की ओर तनिक भी ध्यान न दो तो वह सुधार है या बिगाड़ ? इस प्रश्न पर जरा विचार करो। तुम जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं पर तो ध्यान नहीं देते और बाहरी कृत्रिमताओं को बढ़ाने में जीवन खर्च डालते हो ! जो अपनी गृहिणी को भूल कर सिनेमा की अभिनेत्री के पीछे सारी शक्ति व्यय करता है, उसकी क्या

दशा होती है, सो जानते हो ? ठीक वही दशा वास्तविकता को भूल कर कृत्रिमता के पीछे पड़ कर अपनी शक्ति बर्बाद कर देने वालों की होती है। जैसे वे छह राजा पुतली के बाहरी रूप के पीछे पागल हो गये थे, उसी प्रकार तुम भी ऊपर के मिथ्या आडम्बरों को बढ़ाने में वास्तविकता को भुला देते हो। जब इन भूलों को दूर कर दोगे तभी तुम्हारे हृदय पर निर्ग्रन्थ-धर्म का प्रभाव पड़ सकेगा। और जब तुम निर्ग्रन्थ-धर्म को अपने जीवन में ताने-बाने की तरह बुन लोगे, तब तुम्हें न कुछ कहने की आवश्यकता रहेगी, न सुनने की ही। अतएव सब लोगों को इस बात पर विचार करना चाहिए कि वर्त्तमान में जीवन के लिए कौन-सा कार्य आवश्यक और उपयोगी है तथा कौन-सा कार्य अनावश्यक एवं हानिजनक है ? सभी नये काम खराब होते हैं अथवा सभी पुराने काम खराब होते हैं, ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। अतएव जो नियम जीवन में तत्व पूरने वाला हो, उसे रहने दो और जीवन-विघातक तत्वों को दूर कर दो। ऐसा करने से ही भगवान् के उपदेश का प्रभाव तुम्हारे जीवन पर पड़ सकेगा।

मघा का वृत्तान्त

मघा की जो कथा कही जा रही है वह आज की नहीं, लगभग दो हजार वर्ष पहले की है। यह बात जुदी है कि कथा में आये हुए तत्वों का वर्णन आधुनिक आवश्यकता के अनुसार किया जाय, पर वह वर्णन वस्तुतः उस मूल कथा का ही होता है। इस कथा से यह मालूम हो जाता है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में कैसे-कैसे तत्व, किस प्रकार समझाये जाते थे। मैं

यह कथा वर्त्तमान परिस्थिति के अनुसार विस्तृत करके क
रहा हूँ, मगर है यह प्राचीन कथा ही। जब लोग बाह्य वस्तुओं
पर अधिक मुग्ध बन जाते हैं तब महापुरुष उन बाह्य वस्तुओं
अन्तरङ्ग में छिपे रहने वाले तत्त्वों को जगत् के समक्ष उपस्थि
करते हैं। जगत् को कल्याण-पथ दिखाना कोई सहज काम नह
है। वह साधारण मनुष्य के बूते का भी काम नहीं है। जि
महापुरुषों ने अहंकार के ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त करली है, वह
जगत् को कल्याण का मार्ग बता सकते हैं और जगत् को सुधा
सकते हैं।

मघा ने अहंकार को जीत लिया था। वह निंदा या घृण
से घबराता नहीं था। 'क्यों तुम मेरी निन्दा करते हो?'—ऐस
कह कर वह किसी से झगड़ने भी नहीं बैठता था। वह लोक
निन्दा को जीतने का ही सतत प्रयास करता था। जब उससे को
कहता—'तू बहुत बुरा कार्य कर रहा है, तू जनता को धोखा
रहा है'— तो वह सोचने लगता—परमात्मा की प्रार्थना क
सफल बनाने का समय नजदीक आता जाता है। सच्चा भक्त
परमात्मा की प्रार्थना करता हुआ कहता है:—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
तुम से काह छिपाउँ कृपानिधि, तुम उर अन्तर्यामी।

इस प्रकार प्रभु की प्रार्थना करने वाला भक्त, यद्यपि संसा
के अन्यान्य पापियों के समान बड़ा पापी नहीं होता, तब भ
वह अपने तिल से पाप को ताड़ का रूप देकर उसे भी दूर करन

की भावना रखता है। बड़े पापी में तो इस प्रकार की प्रार्थना करने की सामर्थ्य ही नहीं होती। जिसमें थोड़ा पाप होता है वही ऐसी प्रार्थना कर सकता है। जैसे काले कपड़े पर पड़ा हुआ धब्बा दिखाई नहीं देता और सफ़ेद कपड़े पर पड़ा हुआ धब्बा अनायास ही दीख जाता है, इसी प्रकार जिनका अन्तःकरण पाप की कालिमा से मलीमस होता है उन्हें अपना पाप नजर नहीं आता। इसके विपरीत, जो अल्प पापी होता है वह अपने अल्प पाप को भी बहुत अधिक मानकर उसे परमात्मा के सामने पेश करता है और उसे धो डालने का प्रयत्न करता है।

वैज्ञानिकों के कथनानुसार किसी कमरे की हवा यदि खराब हो गई हो तो उसे बाहर निकाल देने से तत्काल ताजा हवा आ जाती है। उसके लिए कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार यदि हृदय की गंदगी बाहर निकाल दी जायगी तो अवश्य पवित्रता का प्रवेश होगा। तब पवित्रता लाने के लिए प्रयास नहीं करना होगा। लोगों की यह आदत-सी हो गई है कि अपने हृदय की गंदगी दूर तो करते नहीं हैं और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि मेरे दिल की गंदगी को आप दूर कर दीजिए! पर जब उनसे कोई यही बात कहता है कि तुम्हारे हृदय में गंदगी है, तो लाल आँखें निकालने लगते हैं। यह पद्धति अच्छी नहीं है। इसका परित्याग करके सच्चे हृदय से परमात्मा के सामने अपने दोष उपस्थित करो और फिर हृदय-शुद्धि का प्रयास करो। अवश्य तुम्हारा कल्याण होगा।

मघा ने अपने बत्तीस शिष्यों को अपना आचारधर्म समझा

कर अपने समान बना लिया। आचार्य मानतुंग ने भगवान् की प्रार्थना करते हुए कहा है:—

तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा,
भूत्याऽऽश्रितं य इह नात्मसमं करोति।

भक्तामर स्तोत्र।

जिस वृक्ष का जल सींचकर पालन-पोषण किया जाता है, वह क्या फल-फूल नहीं देता ? अवश्य देता है। इसी प्रकार जो पुरुष लक्ष्मीवान् की सेवा करता है, वह स्वयं लक्ष्मीवान् बन जाता है। सच्चा श्रीमान् वही है जो अपने सेवक को श्रीमान् बना देता है। भक्त जन कहते हैं—जब सच्चा श्रीमान् भी सेवक को अपने समान बना लेता है, तो क्या परमात्मा अपने सेवक को अपने समान न बनाएगा ? परमात्मा अपने सेवक को—अगर सेवक सच्चा हो तो—अवश्य अपने समान बना लेता है।

मघा ने अपने बत्तीसों शिष्यों को अपने समान बना लिया। वे भी जन-सेवा द्वारा शान्ति और आनन्द का अनुभव करने लगे। अब तक तो उसका काम-काज व्यवस्थित रूप से चलता रहा और उसके कार्य से सब ने शान्ति का अनुभव किया था; परन्तु अब उसकी सच्ची कसौटी का समय आ पहुँचा। जैसे नियमित अभ्यास करने वाला विद्यार्थी परीक्षा से नहीं घबराता, उसी प्रकार सच्चा सेवक जीवन-परीक्षा से नहीं घबराता। जो विद्यार्थी नियमित अभ्यास नहीं करता वह परीक्षा का समय आने पर डरने लगता है। उसे यह चिन्ता होने लगती है कि—हाय, अब क्या करूँ ? इसके विपरीत नियमित अभ्यास करने वाला विद्यार्थी, ज्यों-ज्यों परीक्षा नजदीक आती जाती है, त्यों-त्यों प्रसन्न होता है। उसे

आत्मविश्वास होता है कि मैं परीक्षा में उत्तीर्ण होकर प्रमाणपत्र प्राप्त करूँगा।

इसी प्रकार ज्ञानी और विवेकशील लोग, संकट के समय ज़रा भी विचलित या भयभीत नहीं होते। संकटों को अपनी जीवन-साधना की कसौटी समझकर—परीक्षा मानकर संकटों का स्वागत करते हैं और उनके आने पर प्रसन्न होते हैं। वे समझते हैं—यदि इस संकट की परीक्षा में हम उत्तीर्ण हो गये तो हमें परमात्मा की भक्ति का प्रमाणपत्र प्राप्त हो सकेगा।

मघा की सत्प्रवृत्ति से ग्रामीण जनता को अत्यन्त लाभ पहुँचा था। न तो उससे राजा को ही कोई हानि हुई थी और न प्रजा को ही। मघा के शुभ प्रयत्न से लोगों ने वेश्यागमन, मदिरापान, चोरी आदि पाप-प्रवृत्तियों का परित्याग कर दिया था। उस समय होटल नहीं थे, अतएव होटलों के संबंध में उसे कुछ कहना ही न था। हाँ, मघा जैसा कोई सुधारक आज हो तो वह होटल का व्यसन जरूर छुड़ा देता। आज होटलों के कारण कैसी-कैसी पाप-प्रवृत्तियाँ बढ़ गई हैं और लोग इन पाप-प्रवृत्तियों में पड़ कर किस प्रकार पतन की ओर प्रयाण कर रहे हैं, यह सब के सामने है। जिस जाति में या जिस घर में मांस-मदिरा का सेवन तो दूर रहा उनका नाम तक लेना पाप माना जाता है, उन्हीं लोगों की सन्तान होटलों में जाना सीख लेती है और धीरे-धीरे मांस-मदिरा के खान-पान की पापमय प्रवृत्ति में पड़ जाती है; ऐसा सुना जाता है। जो लोग मांस का स्वाद चखने के लिए अथवा दूसरों का मांस खाकर हृष्ट-पुष्ट बनने की आशा से मांस का सेवन करते हैं, उन्हें यह भूल न जाना चाहिए कि

मांस के सेवन से मनोवृत्ति तामसिक बन जाती है और अन्त में अपने ही हाथों अनेक अनर्थ भुगतने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त मांस-भोजी को यह भी समझ रखना चाहिए कि जैसे हम दूसरों का मांस उपभोग में ला रहे हैं उसी प्रकार कहीं दूसरे हमारे मांस का भी उपभोग न करने लगें !

मदिरा-पान करने वालों को अपने शरीर की दुर्दशा का भी भान नहीं रहता। वे तो केवल यही समझते हैं कि जब हमारे पास पैसा है तो क्यों न हम मौज-शौक में उसका उपयोग करें ! अगर पैसा मौज-शौक में काम न आया तो जिन्दगी का मजा ही क्या ? इस प्रकार की दुर्भावना के शिकार हुए लोग मदिरा जैसे मादक पदार्थों के लिए अपने पैसों का और अपने बहुमूल्य जीवन का भी सर्वनाश कर डालते हैं। कहते हैं, अगर छत्रपति शिवाजी का पुत्र शंभाजी सुरा और सुन्दरी के फन्दे में न पड़ा होता, तो वह 'बाप से बेटा सवाया' इस लोकोक्ति को सार्थक करने में समर्थ होता। पर वह सुरा और सुन्दरी के मोह में अन्धा हो गया और अन्त में उसकी बड़ी बुरी दशा हुई।

मघा के शुभ प्रयत्न से सब को शान्ति मिली, पर मदिरा बेचने वालों, वेश्याओं और राज-कर्मचारियों के लिए वह अशान्ति-कर्त्ता हो गया। मघा इन सब की आँखों में कांटे के समान चुभने लगा। उन्होंने मघा को ही अपने रोजगार के मटियामेट होने का कारण समझा। लोगों पर उसका बहुत अधिक प्रभाव है और उसके कहने से ही लोग हमारे पास फटकते तक नहीं हैं, यह सोचकर उन्हें मघा बुरी तरह खटकने लगा। उन्होंने सोचा—किसी भी उपाय से मघा को हटाना चाहिए। ऐसा विचार कर

उन्होंने एक मंडल बनाया और मघा को दूर करने के उपाय सोचे। अन्त में राजा की शरण लेना निश्चित हुआ। पर उसका और उसके शिष्यों का कोई अपराध भी तो होना चाहिए? राजा से निर्वासन के लिए कहा जायगा तब वह कहेंगे—'मघा साधु पुरुष है, उसे गाँव बाहर क्यों निकाला जाय?' तब राजा के सामने यह कहना ठीक होगा—'मघा और उसके सब चेले उचक्के और लुटेरे हैं और उनके कारण प्रजा को अत्यन्त त्रास हो रहा है। उनके त्रास के आगे राजसत्ता भी झख मारती है।' यह सुन कर राजा, मघा के ऊपर कुपित होंगे और हमारी योजना सफल हो जायगी, क्योंकि राजा हमारे ऊपर विश्वास करते हैं।

इस प्रकार निश्चय करके, राज-कर्मचारियों ने अपना संगठन और सुदृढ़ करने का निश्चय किया। संगठन-शक्ति अच्छे कार्य के लिए भी प्रयुक्त की जा सकती है और किसी अच्छे कार्य में रोड़ा अटकाने के लिए भी प्रयुक्त की जा सकती है, क्योंकि शक्ति वह दुधारी तलवार है जिससे रक्षण और भक्षण दोनों काम लिये जा सकते हैं। राजकर्मचारियों के स्थापित किये हुए मंडल में पाप-प्रवृत्तियों द्वारा धन उपार्जन करने वाले कुछ लोग और शामिल हो गये। सब ने मिलकर मघा और उसके शिष्यों के विरुद्ध एक आवेदन-पत्र तैयार किया और राजा के पास ले गये।

मगध-नरेश को सूचना दी गई कि अमुक-अमुक राजकर्मचारी आपसे मिलने के लिये आये हैं। पर उस समय राजा स्वयं मदिरा के नशे में चूर हो रहा था। जब नशा कम हुआ तो

राजा अपनी राजसभा में आया। राजा का आना थ कि सब कर्मचारी पुकार मचाने लगे—'अन्नदाता! राज्य म अत्यन्त विग्रह फैल गया है। चारों ओर राज्य में लुटेरों उत्पात मचा रक्खा है। प्रजा इससे बहुत दुःखी हो गई है। इस त्रास को मिटाने के लिये प्रजा ने हमें यह निवेदन-पत्र लेक आपकी सेवा में भेजा है। इसे पढ़कर उचित प्रबंध करने कं कृपा कीजिए।'

मघा और उसके साथियों के विरुद्ध जो आवेदन-पत्र राज कर्मचारियों ने तैयार किया था, वह राजा के समक्ष पेश किय गया। इसके अतिरिक्त झूठी-सच्ची अनेक बातें, जो उनके म में आई, राजा को कह सुनाई।

आजकल भी राजकर्मचारी राजा को वास्तविक बात न कह कर 'मन-गमती' बातें बनाकर राजा के कान भर देते हैं। लो बाहर की चोरी को बुरा कहते हैं पर आँखों में धूल झोंक कर क जाने वाली इस प्रकार की सफेद चोरी की ओर नजर भी नह फेरते। चोर को चोरी करते देखकर वैराग्य-लाभ करने वाले समुद्रपाल जैसे विचारक तो विरले ही होते हैं!

मगध-नरेश मदिरा के नशे में चूर तो थे ही, न कुछ सोचा न विचारा और राजकर्मचारियों की बातों पर सहसा विश्वास करके तत्काल हुक्म सुना दिया। उन्हें जाँच-पड़ताल करने की आवश्यकता प्रतीत ही नहीं हुई। राजा ने कहा—'सेना की एक टुकड़ी ले जाओ और राज-विद्रोहियों को पकड़ मँगवाओ।' राजा का यह नादिरशाही हुक्म सुनकर राजकर्मचारियों के ह

का पार न रहा और सभी 'मेरी युक्ति काम कर गई' इत्यादि कहते हुए अपनी-अपनी बड़ाई करने लगे।

प्रसन्नता में पगे हुए और अपने-आप मियां-मिट्ठू बनते हुए राजकर्मचारी सेना की टुकड़ी के साथ अपने गाँव लौटे।

रास्ते में कर्मचारियों ने सेना-नायक को सूचित कर दिया था कि-'देखिए, दूसरे किसी भी आदमी की न तो आप बात सुनें, और न किसी से कुछ पूछने के लिए रुकें। अगर आप ऐसा न करेंगे तो बदमाशों को पकड़ना असंभव हो जायगा। हम जिसकी ओर संकेत करें, बस उसी को गिरफ्तार कर लीजिए। अगर हम प्रगट रूप से उन बदमाशों के नाम आपको बताएँगे तो हमारी जान की खैर नहीं। ये बदमाश बहुत चालाक हैं। इन्होंने गाँव वालों को भी विद्रोही बना दिया है। राज-मर्यादा की उन्हें रंचमात्र पर-वाह नहीं है। अतएव किसी के कहने पर कान न देकर जिसकी ओर इशारा किया जाय, उसी को आप गिरफ्तार करते जाइए।' इस प्रकार सैनिकों को पहले-से ही बहका दिया गया। यों सैनिक स्वयं कितने उद्धत होते हैं, यह किसी से छिपा हुआ नहीं है।

सैनिक कहने लगे—हमें महाराज ने आपके आदेश का पालन करने की आज्ञा दी है। अतएव जो आपकी आज्ञा होगी, वह हमें स्वीकार है। हम दूसरों की न सुनेंगे और न मानेंगे। जिस किसी को भी गिरफ्तार करने की आपकी आज्ञा होगी, उसे फौरन बिना विलंब गिरफ्तार किया जायगा।

राजकर्मचारियों ने संतोष की सांस ली।

इस प्रकार पूरी तैयारी करके सेना के साथ राजकर्मचारी गाँव में दाखिल हुए। गाँव के लोगों को पता चला कि महाराज, मघा और उनके शिष्यों पर खफा हो गये हैं और उन सबको पकड़ने के लिए सशस्त्र सेना आई है। कच्चे दिल का कोई आदमी सशस्त्र सेना के आगमन की बात सुनते ही घबड़ा उठता है, पर मघा कच्चे दिल का आदमी नहीं था। वह जो सत्कार्य कर रहा था उसमें उसका अटूट विश्वास था। वह किसी का डिगाया डिगने वाला नहीं था। जब उसने अपने पकड़ने के लिए सशस्त्र सेना के आने का समाचार सुना, तो वह सोचने लगा—'मेरी परीक्षा का समय आ पहुँचा है।' उसने अपने साथियों को बुलाकर कहा—आज हम सब की परीक्षा का समय आ गया है अब छोटे-छोटे काम छोड़ो। अब हमें एक महत्वपूर्ण कार्य करना है। छोटे-छोटे कार्य करते बहुत दिन बीत गये हैं। अब एक बड़े कार्य में हाथ डालना होगा।

इस प्रकार अपने साथियों को सावधान करके मघा राज कचहरी के आगे जा बैठा। उसने अपने शिष्यों से फिर कहा—'हम लोगों को पकड़ने के लिए हथियारों से लैस सेना आ रही है अब तुम क्या करोगे ?'

शिष्यों ने कहा—'आप गुरु हैं। हम आपके शिष्य हैं। जहाँ गुरु-शिष्य का पवित्र नाता होता है, वहाँ तर्क-वितर्क को स्थान ही नहीं रहता। तर्क-वितर्क करना पंडितों का काम है, हमारा नहीं। आपमें हमारी सम्पूर्ण निष्ठा है। अतएव आप जो-कुछ करने को कहें, वही हम करने को तैयार हैं।'

मघा—'तुम सबने मिलकर तो अकेले मुझ पर ही सारी जिम्मेदारी डाल दी है। तो मुझे यही कहना है कि अब हमें एक महान् कार्य करना है। अतएव मैं जो करूँ वही तुम सब भी करते चलना। ऐसा करने में न तो तुम डरना और न पीछे पैर रखना। मैं तुम सबसे आगे रहूँगा। बस, यह दृढ़ प्रतिज्ञा करो कि तुम सब मेरा ही अनुसरण करोगे, मैं जो कुछ करूँगा वही तुम भी करोगे।'

शिष्य—'हम लोग तो सब-कुछ अपने सिर ओढ़ लेना चाहते थे और आपको सब प्रकार के संकटों से बचा लेना चाहते थे; पर जब आप हमारे आगे रहने वाले हैं तो हम आपके पीछे चलने में क्यों आनाकानी करने लगे ?'

जैसे युद्ध में सच्चा सेनापति आगे रहता है, उसी प्रकार कष्ट-सहन करने में सच्चा सेवक सदा आगे रहता है। इस विषय में महाकवि भर्तृहरि कहते हैं:—

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

सेवा-धर्म इतना कठोर है कि योगियों के लिये भी वह अगम्य है। वास्तव में सेवाधर्म की साधना के लिए वीरता की आवश्यकता होती है। बातों से यह साधना साध्य नहीं है।

मघा के बत्तीसों शिष्य सच्चे सेवक थे और मघा ने उन्हें सेवा की शिक्षा देकर अपने समान ही सेवक बना लिया था।

मघा अपने शिष्यों के साथ न्यायालय के सामने बैठा ही था

कि सेना आ पहुँची। राजकर्मचारियों ने सेना-नायक से कहा—'देखिये, सब बदमाश इकट्ठे होकर वहाँ बैठे हुए हैं। वे इतने लापरवाह हैं कि सेना से भी नहीं डरते। वे बहुत बहादुर और निडर हैं, अतएव उन्हें पकड़ते समय सावधानी रखने की आवश्यकता है।'

सेना-नायक ने कहा—'यह बहुत अच्छा हुआ, जो उन्हें खोजने के लिए हमें भटकना नहीं पड़ा।'

राजकर्मचारी बोले—'हमें भय है, ये लोग कहीं आपके ऊपर हमला न कर बैठें।'

सेना-नायक ने उत्तर दिया—'हम लोग इतने कायर नहीं कि उनके हमले से भाग खड़े हों। हम लोग शूरवीर हैं। इसके अतिरिक्त महाराज ने हमें अधिकार दे रक्खा है कि हमला होने की हालत में हम गोली चला सकते हैं।'

एक ओर जहाँ ऐसी शूरवीरता बघारी जा रही थी, वहाँ दूसरी ओर मघा अपने शिष्यों को समझा रहा था—'तुम्हें पूर्ण शान्ति रखनी चाहिए। जरा भी शान्ति भंग न होने देना और जैसा मैं कहूँ, वैसा ही करना।'

सैनिक मघा और उसके साथियों के सन्निकट आ पहुँचे। उन्हें देखते ही सैनिक आपस में कहने लगे—'ये तो विद्रोही से नहीं जँचते। इनकी मुख-मुद्रा पर विद्रोह की रेखा तक दिखाई नहीं देती। जो कुछ हो, हमें आज्ञा-पालन करना है। इनके

विद्रोही होने न-होने का उत्तरदायित्व हम पर नहीं है। यह उत्तर-दायित्व तो इन राजकर्मचारियों पर है।'

सेना-नायक ने मघा और उसके शिष्यों से कहा—'तुम लोगों ने गाँव में बड़ा जुलम ढ़ाया है। अब विलंब किये विना फौरन ही हथकड़ी-बेड़ी पहन लो और हमारे साथ चलो। महाराज ने तुम्हें गिरफ्तार कर लाने का आदेश दिया है।'

सेना-नायक की बात सुनते ही मघा और उसके साथियों ने अपने-अपने हाथ लंबे कर दिये। सैनिकों ने उन्हें हथकड़ी पहना दी। इसके बाद बेड़ी पहनने को कहा गया तो सब ने पैर लंबे कर दिये। उनके पैर बेड़ियों से जकड़ दिये गये। हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ पहना कर सैनिक ऐसे प्रसन्न हुए मानों बड़ा जंग जीत लिया हो। इधर मघा और उसके शिष्य सत्य के आभूषण पाकर प्रसन्न हुए। चोरी, अत्याचार या अन्याय करके हथकड़ी-बेड़ी पहनना बुरी बात है, पर चोरी, अत्याचार या अन्याय का प्रति-कार करने के उपलक्ष्य में हथकड़ी-बेड़ी पहननी पड़े तो सच्चे सेवक को इन्हें 'सेवा के आभूषण' समझकर प्रसन्न होना चाहिये। हथकड़ी-बेड़ी ही सच्चे सेवक के सर्वश्रेष्ठ आभूषण हैं।

सैनिकों ने जब मघा और उसके शिष्यों को गिरफ्तार करके हथकड़ी-बेड़ी पहनाई, तब तक गाँव-भर के लोग जमा हो गये थे। वे सब मघा की ओर एक इशारे की प्रतीक्षा करते हुए देख रहे थे। मघा एक इशारा करें, और सारी फौज को मार के मारे भागने की जगह न मिले! सेना कदाचित् हमें मारने दौड़ेगी तो भी कितनों को मारेगी? मघा ने जनता के भाव समझ लिये।

उसने भड़की हुई भीड़ से कहा—'अगर आप लोग हमारा हित चाहते हैं तो जरा भी अशान्ति न होने दें। हम आपसे यही सहायता चाहते हैं कि आप सब लोग एकदम शान्त रहें। अगर आपने शान्ति-भंग की, तो इतने दिनों के किये पर पानी फिर जायगा और हमारे साथ आपका भी अहित होगा। अतएव सब की भलाई के खातिर आप सब लोग पूर्ण रूप से शान्त रहें।'

सैनिक यह अद्‌भुत और अपूर्व दृश्य देखकर आश्चर्य में पड़ गये। यह सब है क्या मामला ?—सो उनकी समझ में कुछ न आया। इतने अधिक शान्त मनुष्यों को विद्रोही कैसे करार दिया गया है ? खैर! उन्होंने सोचा—हमारा कर्त्तव्य आज्ञा-पालन है।

राजकर्मचारियों ने सोचा—जितनी जल्दी हो सके, इन्हें राजधानी में ले जाना उचित है। कहीं ऐसा न हो कि सारा गुड़ गोबर हो जाय!

सेना-नायक ने मघा और उसके साथियों से चलने को कहा। तेतीसों सेवक हथकड़ी-बेड़ी खनखनाते हुए धीरे-धीरे रवाना हुए। उनकी बेड़ियों की आवाज बीकानेरी स्त्रियों के पैरों के गहने की झंकार-सी सुनाई पड़ने लगी। लोग उनको हथकड़ी-बेड़ी पहने जाते देख आपस में कहने लगे—'राज्य-शासन कैसा अत्याचारी और राक्षसी है, जो ऐसे सत्पुरुषों को भी ऐसी असह्य यातनाएँ दे रहा है।' ग्राम-वासियों को दुखी होते देख मघा ने कहा—'भाइयो, आप दुखी न हों। हम लोग अकेले नहीं हैं। हमारे साथ परमात्मा भी है।'

जब सैनिक मघा के दल को लेकर रवाना हुए तो गाँव वालों में से कितनेक रोने लगे, कितनेक चीख मारने लगे और कुछ समझदार लोग दूसरों को समझाने लगे—'हमें घबड़ाना नहीं चाहिए। आज रात्रि का अंधकार है तो कल सत्यरूपी सूर्य का आलोक होगा और आपत्तिरूपी अंधकार हट जायगा। सत्य-सूर्य का उदय होने पर सबका कल्याण होगा। अतएव हमें रोना-चीखना नहीं चाहिए। धीरज रखना उचित है। अगर हम मघा का सचमुच सन्मान करते हैं, तो हमें मघा ने जिस मार्ग का प्रदर्शन किया है उसी मार्ग पर और अधिक दृढ़ता से अग्रसर होना चाहिए।'

मघा-दल को लेकर सैनिक राजगृह आ पहुँचे। कर्मचारी पहले ही राजा के पास जा पहुँचे थे। उन्हें भय था, कहीं कोई राजा के कान न भर दे। अतएव राजा के पास आकर वे बोले—'महाराज! आपको विजय हुई है। विद्रोही सब पकड़े गये हैं। भला, आपके प्रबल प्रताप के सामने उनकी क्या चल सकती है? आपकी सेना भी बहुत योग्य है। उसकी बदौलत वे लोग इतनी जल्दी पकड़ में आ सके हैं। यों उन्हें काबू में लाना कोई सरल काम न था!'

संघ-बल का इस प्रकार दुरुपयोग भी किया जाता है। पर संघ-बल को ऐसे कुत्सित कार्य में बर्बाद न कर किसी सत्कार्य में लगाना चाहिए। किसी कुत्सित कार्य में, फिर भले ही उस ओर कितना ही आकर्षण या बहुमत हो, सम्मिलित नहीं होना चाहिए। याद रखना—

सत्यमेव जयते, नानृतम् ।

अन्तिम विजय सत्य की ही होती है, असत्य की नहीं। सत्य की विजय किस प्रकार होती है, यह मघा के सत्यमय जीवन से स्पष्ट ज्ञात हो जायगा। मघा और उसके साथी मिलकर तेतीस ही थे। पर वे तेतीस, तेतीस करोड़ के बराबर थे, यह कहना क्या अनुचित है? तेतीस की संख्या का बहुत महत्व है। शास्त्र में इन्द्र के गुरु-स्थानीय देवता तेतीस कहे गये हैं। लोकोक्ति के अनुसार देवता भी तेतीस करोड़ माने जाते हैं। किस प्रकार इन तेतीस पुरुषों को विजय-प्राप्ति होती है, यह फिर देखेंगे।

जन-सेवा

(४)
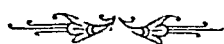
प्रार्थना

श्री मुनिसुव्रत साहबा, दीनदयाल देवा तणा देव के।
तरण तारण प्रभू मो भणी, उज्ज्वल चित समरुं नित्यमेव के॥
श्री मुनिसुव्रत साहबा।

श्री मुनिसुव्रत भगवान की यह प्रार्थना है। परमात्मा की प्रार्थना करने का सार है अपनी लघुता का भान हो जाना। परमात्मा की प्रार्थना करने के लिए अपने बड़प्पन को, अपने अभिमान को, और अपने अहंकार को छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने पर ही प्रार्थना करने की योग्यता प्रगट होती है।

इस प्रार्थना में परमात्मा को 'दीनदयालु' कहा गया है। परमात्मा जब दीनदयाल है तो प्रार्थना करने वाले को 'दीन' बनना चाहिए। दीन बनकर जब प्रार्थना की जाती है, तभी प्रार्थना में वास्तविकता आती है। मगर दीन दो प्रकार से बना जा सकता है—सच्चे हृदय से दीन बनना और दीनता का अनुभव न करते हुए भी दीन बनने का ढोंग करना। अपने भीतर किस प्रकार की दीनता है, यह बताने के लिए मैं अपनी निजी अपूर्णता परमात्मा के समक्ष उपस्थित करता हूँ। इस कसौटी पर तुम भी अपनी अपूर्णता को परखो और तब इस बात का निर्णय करो कि तुम सचमुच प्रभु के प्रति दीन बने हो या दीन बनने का ढोंग कर रहे हो? यह निश्चय मानना कि अगर तुम सच्चे हृदय से दीन नहीं बने हो और दीन बनने का केवल ढोंग करते हो, तो अभी तुम परमात्मा की प्रार्थना के पात्र नहीं बन सके हो। इस प्रार्थना में कहा गया है—

'हुँ अपराधी अनादिनो, जनम-जनम गुना किया भरपूर के।'

हे प्रभो! मैं अनादिकाल का अपराधी हूँ। मैंने बहुत-बहुत पाप किये हैं, इत्यादि। इस प्रकार मैं परमात्मा के प्रति विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ।

मेरी ऐसी प्रार्थना सुनकर कदाचित् तुम कहोगे कि अनेक पाप करने वाला तो कोई हत्यारा या चोर ही हो सकता है; साधु या श्रावक ऐसा अपराधी नहीं हो सकता। और जब ऐसा अपराधी नहीं हो सकता, तो परमात्मा से यह कहना कि 'मैंने अनेक पाप किये हैं, मैं घोर अपराधी हूँ' कहाँ तक उचित है?

पर मैं कैसा और कितना अपराधी हूँ, इस बात पर मैं शास्त्र की दृष्टि से विचार कर सकता हूँ। अपने सम्बन्ध में जैसा निश्चयात्मक विचार किया जा सकता है, वैसा दूसरों के संबंध में नहीं किया जा सकता। शास्त्र कहते हैं—बाहर के पापों को समझना सहज है, पर पाप के सूक्ष्म मार्ग को शोध निकालना बहुत कठिन है। बाहर से हिंसा आदि पाप न करना और इसी कारण अपने को विशुद्ध निरपराध मान बैठना भूल है। क्योंकि—

अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमायेणं, रोगेणालस्सेण य॥

—उत्तराध्ययन

श्रीउत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि गर्व, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य, इन पाँच कारणों से परमात्मा की भक्ति और प्रार्थना की शिक्षा नहीं मिल पाती। इन पाँच कारणों को दूर कर परमात्मा की शिक्षा के पात्र बनो। जैसे सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही टिकता है—अन्य पात्र में नहीं, उसी प्रकार परमात्मा की शिक्षा भी योग्य पात्र में ही टिक सकती है। वह अयोग्य पात्र या अपात्र में नहीं ठहर सकती। अतएव परमात्मा की शिक्षा के सुपात्र बनने के लिए क्रोध, प्रमाद आदि दोषों का त्याग कर आत्मा को जागृत बनाना चाहिए। परमात्मा की शिक्षा का पात्र बनने के लिए मैंने तो घर-बार छोड़कर दीक्षा धारण की है, इसलिए मुझे पहले शिक्षा का पात्र बनना चाहिए। परमात्मा की शिक्षा का पात्र बनने के लिए पहले यह देखना चाहिए कि आत्मा क्रोध आदि दोषों से मुक्त हुआ है या नहीं?

तुमने व्यावहारिक शिक्षा ली है, इसलिए तुम थोड़े में ही समझ सकोगे। मैं तुमसे यही कहना चाहता हूँ कि तुम अपनी शिक्षा का दुरुपयोग न करो। उसे उल्टे मार्ग पर न ले जाओ। आत्म-कल्याण के लिए उसका उपयोग करो।

परमात्मा की शिक्षा का पात्र वनने के लिए और परमात्म-प्रार्थना की योग्यता प्राप्त करने के लिए यह देखना सर्व प्रथम आवश्यक है कि अन्तःकरण में क्रोध, अभिमान आदि पाप कितनी मात्रा में मौजूद हैं?

आत्मा भले ही ऊपर से हिंसा न करता हो, किन्तु अगर उसे यह अभिमान है कि 'मैं हिंसा करता ही नहीं हूँ' तो यही अभिमान हिंसा है। इसी प्रकार उपर से झूठ न वोलने वाले का झूठ न वोलने का अभिमान भी झूठ है और वह भी हिंसा है। किसी सद्गुणी के सद्गुण को देखकर प्रमोद पाने के वदले उस पर द्वेष भाव होना और उसे किसी प्रकार नीचा दिखाने का प्रयत्न करना भी हिंसा है। यह सव आत्मा के अपराध हैं। सूत्र में आठ प्रकार के मदों का वर्णन किया है—जातिमद, कुल-मद, वलमद, रूपमद, लाभमद, तपमद, सूत्रमद और सत्तामद इन आठों प्रकार के मदों से पाप की प्रवृत्ति होती है। अतएव परमात्मा की शिक्षा का पात्र वनने के लिए और प्रार्थना का सामर्थ्य-लाभ करने के लिए इन आठों में से कोई भी मद नहीं होना चाहिए।

इस दृष्टि से जव मैं अपनी आत्मा के अपराधों की खोज

करता हूँ तो जान पड़ता है कि अभी मुझ में बहुतेरी त्रुटियाँ मौजूद हैं। इसलिए अगर मैं परमात्मा के प्रति—

'हुं अपराधी अनादिनो, जनम जनम गुना किया भरपूर के।'

इस प्रकार प्रार्थना करता हूँ—आत्म-निवेदन के रूप में अपना दैन्य परमात्मा के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ, तो मैं क्या बुरा करता हूँ ? बड़े-बड़े विद्वानों ने बहुत-कुछ विचार करके भी यही बात कही है:—

हूँ सरूप निज छोड़ी रम्यो पर पुद्गले,
झील्यो उलट आणी विषय-तृष्णा जले।
आस्रव बंध विभाव करूं रुचि आपणी,
भूल्यो मिथ्या वास दोष हूँ परभणी।
अवगुण ढाँकण काज करूं जिनमत-क्रिया,
न तजुं अवगुणनी चाल अनादिने जे प्रिया।

—श्री देवचंद्र वीसी

इससे हमें यह समझ लेना चाहिए कि—यह आत्मा कहाँ-कहाँ भूलें करता है ? यह आत्मा, अवगुणों को त्यागने के लिए जो क्रियाएँ करता है, उन क्रियाओं से वह वास्तव में अपने अवगुणों को ढँकने की चेष्टा तो नहीं कर रहा है ? आज-कल के अनेक वहिर्दृष्टि लोग दूसरों की दृष्टि में भले और बड़े बनने के लिए किराये पर कपड़े लाकर अपनी तसवीर खिंचवाते हैं; उसी प्रकार, हे आत्मन्, तू दूसरों के आगे भला बनने के उद्देश्य से दुर्गुणों का नाश करने वाली क्रियाओं को, दुर्गुणों को

ढँकने के लिए तो नहीं कर रहा है ? यदि इस चालाकी से तू अपने-आपको ठग रहा हो तो अब बस कर, यह चालाकी छोड़ दे। पावन क्रियाएँ, दुर्गुणों को छिपाने के लिए नहीं, वरन् उनका समूल विनाश करने के लिए कर। इसी में तेरी भलाई है।

लोग जब बीमार होते हैं तो अपने कर्मों को कोसते हैं। पर ज्ञानी-जन जानते हैं—कर्म को कोसने से ही रोग नहीं चला जायगा। रोग का नाश करने के लिए उसके मूल-पाप से छुटकारा पाना होगा।

पाप का उदय होने पर संकट आ पड़ता है और संकट से बचने के लिए लोग फिर पाप का सहारा लेते हैं। मनुष्य की यह कैसी भयंकर भूल है ! ऐसा करने से तो पापों की परम्परा और बढ़ती चलती है। पूर्वकृत पाप के कारण संकट उपस्थित होने पर धीरज धारण करके परमात्मा के साथ प्रेम-सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। जब लोग रोगी होते हैं तब उन्हें डाक्टर प्यारा लगता है। विद्या की कमी होती है तो विद्वान प्यारा लगता है। धन की आवश्यकता होने पर धनवान प्यारा लगता है। ठीक इसी तरह, जब अपने अन्तःकरण में पाप की प्रबलता हो, तो परमात्मा प्रिय लगना चाहिये। अपने पापों के प्रति संवेदना प्रकट होगी तो परमात्मा के प्रति प्रेम भी प्रबल रूप से प्रदीप्त होगा। पर दुनिया पापों को छिपाना चाहती है, दूर नहीं करना चाहती। लोग पाप करते झिझकते नहीं, केवल पापी कहलाने से डरते हैं। उन्हें पता नहीं, पाप छिपाने से घटता नहीं, बढ़ता है। इसलिए पाप का निरीक्षण करके उसके लिए जितना अधिक पश्चात्ताप करोगे, उतने ही अधिक परमात्मा के समीप पहुँच सकोगे।

वहिनों से भी मैं यही कहना चाहता हूँ। पाप को छिपाओ मत, ढँको मत। पापों का प्रायश्चित्त करो और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करो। ऐसा करने से परमात्मा के पाद-पद्मों में तुम्हारे प्रेम का प्रादुर्भाव होगा। ऊपर-ऊपर से पतिव्रता होने का ढोंग करो और भीतर अनीति और अधर्म से भरी भावना बनाये रक्खो, ऐसा कदापि न करना। इसके लिए यह आवश्यक है कि अपने पापों का निरन्तर निरीक्षण करते हुए उन्हें दूर करने के लिए सक्रिय प्रयत्न करते रहो।

सुबह-साँझ प्रतिक्रमण करने का उद्देश्य यही है कि दिन भर में या रात भर में किये हुए पापों से निवृत्त हुआ जाय। प्रतिक्रम का शब्दार्थ है—वापिस लौटना। पर इससे यह आशय नहीं लेना चाहिये कि शुभ कार्य से पीछे फिरना-लौटना। अशुभ काम (पाप) से पीछे लौटना ही प्रतिक्रमण का उद्देश्य है और यही इसका अर्थ है। भगवान् महावीर ने हमारे लिए प्रतिक्रमण धर्म बताया है। भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य कभी प्रतिक्रमण करते थे, कभी नहीं भी करते थे। जब उन्हें यह मालूम होता कि हमसे कोई पाप-प्रवृत्ति हुई है, तब वे उसका प्रतिक्रमण कर लेते थे, अन्यथा नहीं। पर भगवान् महावीर ने प्रतिक्रमण करना आवश्यक —प्रतिदिन का अवश्य-कर्त्तव्य—बतलाया है। उन्होंने नियमित रूप से प्रतिदिन सुबह-साँझ प्रतिक्रमण करने का आदेश दिया है। अतएव पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रतिक्रमण करो और पाप को हटाओ। ऐसा करके जब निष्पाप बनोगे, तब परमात्मा की शिक्षा के पात्र और परमात्मा की प्रार्थना करने के योग्य बन सकोगे।

मन, वचन और काम के योग अर्थात् व्यापार से पापों की उत्पत्ति होती है। मन से पाप होता है, वचन से पाप होता है और काम से पाप होता है, और इन तीनों के योग से भी पाप होता है।

वचन के पाप तो प्रायः प्रकट हो जाते हैं पर मन के पापों का किसे पता चलता है? और जब तक मन से पाप नहीं निकल जाते—मन निर्मल और निष्पाप नहीं बन जाता, तब तक कौन दावा कर सकता है कि मैं अपराधी नहीं हूँ? अतएव मन की मलीनता—पाप—को सर्वथा दूर करना चाहिए और इसके लिए आत्मा को निरन्तर जागृत रखना चाहिए। आत्मा जब मन, वचन और काम के पापों से मुक्त होकर निष्पाप बन जाता है, तब वह परमात्मा की शिक्षा और प्रार्थना का पात्र बनता है। आत्मा को निष्पाप बनाने के लिए सदैव एक भावना का चिन्तन करना चाहिए। इस भावना को कवियों ने बहुत सरल रूप से प्रकट किया है। इस भावना को तुम जहाँ ले जाना चाहो वहीं ले जा सकते हो। जैन दृष्टि से इस भावना में क्या तत्त्व छिपा हुआ है, यह मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। वह भावना कौन-सी है?

कवियों ने कहा है:—

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।

पिछली साख भरूं संतन की, आड़े सँवारे काम,
जब लग गज बल अपनो बर्त्यो, नेक सर्यो नहिं काम।

निर्बल हो बल-राम पुकारे, आये आधे नाम,
सुने री मैंने निर्बल के बल राम ।

आत्मा को राम-बल की अपेक्षा रहती है। अतएव आत्मा को सदा यह भावना बनाये रखना चाहिये कि मुझ में राम के बल का आविर्भाव हो। राम-बल को आत्म-बल भी कहा जा सकता है, और परमात्म-बल भी कहा जा सकता है। नाम उसका कुछ भी हो, पर सच्ची आत्म-शक्ति को पाने की भावना निरन्तर बनी रहनी चाहिए।

ज्ञानी-जन दशरथ के पुत्र राम को ही राम नहीं कहते, किन्तु—

रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः

अर्थात्—योगी जिसमें रमण करते हैं वह राम है। इस व्युत्पत्ति-अर्थ द्वारा दशरथ के पुत्र राम का निषेध नहीं किया गया है। इसमें तो यह बतलाया गया है कि जो राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त है वही सच्चा राम है।

तुम लोग इसी प्रकार का राम-बल प्रगटाओ। पर इस राम-बल को प्रगटाने के लिए तुम्हें आत्मा के विकार दूर करने पड़ेंगे। आत्मा के विकार ज्यों-ज्यों हटते चले जाएँगे त्यों-त्यों तुम्हारी आत्म-शक्ति का आविर्भाव होता चलेगा। तुम्हें अपनी आत्म-शक्ति में निश्चल श्रद्धा है तो वह तुम्हारे पास ही है। वास्तव में वह शक्ति तुम्हारी अपनी आत्मा में ही विद्यमान है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए दूसरे की साक्षी की आवश्यकता नहीं है। जहाँ संदेह होता है वहाँ साक्षी की आवश्यकता होती

है। जहाँ शंका पास नहीं फटकती, वहाँ साक्षी को कौन पूछता है ? हाँ, कदाचित् तुम्हें उस शक्ति की अनुभूति न होती हो और उसे प्राप्त करने की इच्छा एवं तैयारी हो, तो दूसरे की साक्षी लेना भी उचित हो सकता है। दावा करना हो तो साक्षी की आवश्यकता है। अगर दावा ही न करना हो, तो साक्षी किस काम की ?

सो अगर आत्म-शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना हो तो एक क्या हजारों महापुरुषों की साक्षियाँ तुम्हारे सामने प्रस्तुत की जा सकती हैं। विदाई की वेला, मैं तुम्हें अधिक क्या कहूँ ? मैं यही कहता हूँ कि आत्मिक शक्ति को प्रगट करो, तो दूसरी समस्त शक्तियाँ तुम्हारे भीतर आप ही आप प्रगट हो जाएँगी।

अगर तुम यह जानना चाहते हो कि आत्मिक शक्ति तुम्हारे भीतर कहाँ रहती है, तो यह जानने से पहले अपनी आत्मा की खोज करो। यह शरीर आत्मा के सहारे टिका हुआ है। शरीर में जो कुछ होता है, वह सब आत्मा की शक्ति की बदौलत ही होता है। और तो और, आँख के पलक भी आत्मा की शक्ति से ही गिरते-उठते हैं। तुम चर्म-चक्षुओं से आत्मा को नहीं देख सकते। हाँ, इस सम्बन्ध में अगर गहरा विचार करोगे तो जान पड़ेगा कि समस्त शारीरिक क्रियाओं का आधार आत्मा ही है। जिस आत्मा की शक्ति से शरीर के सब व्यापार होते हैं, उस आत्मा को माया-मृषा आदि के द्वारा तुमने अत्यन्त मलीमस बना दिया है। पर यह स्मरण रखना, एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकतीं। इसी प्रकार जब तक आत्मा में माया-मृषा की मलीनता घुसी है, तब तक उसमें राम-बल या आत्मिक सामर्थ्य किस

प्रकार प्रकट हो सकता है ? तुम किसी भले मानुस को अपने घर आने का आमंत्रण तो दे दो, परन्तु घर के सब दर्वाजे और खिड़कियाँ बंद कर लो, तो वह आमंत्रित व्यक्ति तुम्हारे घर में कैसे घुस सकेगा ? इसी प्रकार तुम राम-बल—परमात्म-बल को चाहते तो हो, पर आत्मा के विकारों को दूर नहीं करते। ऐसी दशा में राम-बल कैसे पा सकते हो ? अतएव अगर तुम आत्मा में से विकार-शक्ति को हटा दो, तो मघा की भाँति तुम्हारे भीतर भी अक्षय राम-बल या आध्यात्मिक सामर्थ्य प्रकट हो सकता है।

मघा का वृत्तान्त

मघा और उसके साथियों को भयंकर अपराधियों की भाँति राजा के सामने उपस्थित किया गया। राजा, कर्मचारियों की वातों में आ गया और अपराध की जाँच-पड़ताल किये बिना ही, जोश में आकर कहने लगा—'प्रजा को त्रास पहुँचाने वाले तुम्हारे जैसे लुटेरे एक क्षण भर भी मेरे राज्य में नहीं रह सकते। इन्हें ऐसी सख्त सजा मिलनी चाहिए कि इन्हें देख कर फिर कोई ऐसा अपराध करने की हिम्मत ही न कर सके। इन्हें राजमहल के सामने वाले मैदान में ले जाकर लिटा दो। मैं महल के झरोखे में जाकर बैठता हूँ। नागरिक लोगों के सामने इन तेतीसों लुटेरों को हाथियों के पैरों के नीचे दबोच कर कुचलवा डालो।'

इन लोगों का अपराध क्या है—? इस सम्बन्ध में जरा भी विचार न करके राजा ने सत्ता के मद में उन्मत्त होकर, कर्म-

चारियों के कहने मात्र से, तेतीसों जनों को हाथियों के पैरों तले कुचलवा डालने का हुक्म दे दिया !

राज्य-कर्मचारियों ने राजा की आज्ञा के अनुसार सारी व्यवस्था कर डाली। नगर के नर-नारियों की भीड़, राजमहल के मैदान में, राजा का नया कौतुक देखने के लिए जमा हो गई। मघा और उसके साथी यथासमय मैदान में लाये गये। उनसे कहा गया—'अपने इष्ट देव का अंतिम समय में स्मरण करलो। अब तुम्हें, तुम्हारे कृत्यों का फल मिलने ही वाला है।'

मघा यह सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ। वह विचारने लगा—'आज हमें, अपने कृत्यों का फल मिलेगा; यह बड़ी अच्छी बात है।' फिर उसने अपने शिष्यों से कहा—'तुम लोग मेरे कहने से नहीं, वरन् अपनी-अपनी इच्छा से मेरे शिष्य बने हो। तुम्हें संकट के समय जरा भी घबराना नहीं चाहिए। मैं सब से आगे सोऊँगा। हाथी सब से पहिले मुझे ही रौंदेगा। तुम सब मेरे पीछे रहोगे। देखो, घबराना नहीं। धीरज रखना। सब ठीक ही होगा।'

मघा ने अपने शिष्यों को जो उपदेश दिया, इस सम्बन्ध में, चन्दनबाला की कथा में कही हुई कविता अगर कही जाय तो अनुचित न होगा। इस कविता का भाव मघा के उपदेश से अत्यन्त साम्य रखता है। अतएव यहाँ भी उसे कहना उचित है। इस कविता की भावना को तुम अपने हृदय में उतारोगे तो तुम्हारा कल्याण ही होगा।

मघा अपने शिष्यों से कहता है:—

शान्ति-समर में कभी भूल कर, धैर्य नहीं खोना होगा,
वज्र-प्रहार भले सिर पर हो, किन्तु नहीं रोना होगा।
अरि से बदला लेने का मन बीज नहीं बोना होगा,
घर में कान तूल देकर फिर तुझे नहीं सोना होगा॥
देश-दाग को रुधिर-वारि से हर्षित हो धोना होगा,
देश-काज की भारी गठड़ी, सिर पर रख ढोना होगा।
आँखें लाल, भँवें टेढ़ी कर, क्रोध नहीं करना होगा,
बलि-वेदी पर तुझे हर्ष से, चढ़ कर कट मरना होगा॥
नश्वर है नर-देह मौत से कभी नहीं डरना होगा,
सत्य-मार्ग को छोड़ स्वार्थ-पथ पैर नहीं धरना होगा।
होगी निश्चय जीत धर्म की, यही भाव भरना होगा,
मातृभूमि के लिए हर्ष से, जीना अरु मरना होगा॥

खरी कसौटी के समय ऐसी शिक्षा किस प्रकार समझाई जाती होगी और उसका कैसा असर पड़ता होगा, यह कौन कह सकता है ? हम लोग तो उस शिक्षा की नकल करते हैं। आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति के साथ, अन्तःकरणपूर्वक जब यह शिक्षा दी जाती होगी, तब उसके समर्थ प्रभाव के विषय में कहना ही क्या ?

अगर हम अपने आत्मा को संकट में पड़ा हुआ मानकर इस प्रकार की उच्च और स्वच्छ भावना भावें तो इसके महत्त्व को कदाचित् समझ सकेंगे। कोई कह सकता है—हमारी आत्मा पर ऐसा कौन-सा संकट आकर पड़ा है, जो हम ऐसी भावना भाते

फिरें ? उत्तर यह है—आत्मा के ऊपर पाप का घोर संकट आ पड़ा है। पाप के संकट—भय से ही साधु या श्रावक बनते हैं। हम भी शान्ति के युद्ध में जूझने के लिये साधु बने हैं, खाने-पीने के लिए नहीं। अतएव प्रत्येक आत्म-कल्याण के अभिलाषी को इस प्रकार की उच्च भावना भानी चाहिए।

मघा ने अपने शिष्यों से कहा—

भावना तश्चित्त प्रसादनम्।

— योगसूत्र

मेरे प्यारे शिष्यो ! इस प्रसंग पर उच्च भावनाओं द्वारा अपना चित्त खूब प्रसन्न रखना। उच्च भावनाएँ चित्त की प्रसन्नता के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। 'हमने भलाई का काम किया और हमें ही घोर दंड क्यों मिल रहा है'—ऐसा बुरा विचार मन में उदित न होने देना। यह भी मत सोचना कि—'क्या अच्छे कामों का बुरा फल मिलना ही धर्म या ईश्वर की आराधना का फल है ? जब हम हाथी के पैरों तले रौंदे जा रहे हैं, तब भी धर्म अगर आड़े नहीं आता, तो फिर धर्म कहाँ है ?'—ऐसी दुर्भावना मन में न उगने देना।

ऐसे घोरतर संकट के समय उच्च भावना में तल्लीन रहना, साधारण व्यक्ति के बल-बूते की बात नहीं है। पर ऐसे संकट-काल में उच्च भावना में तन्मय होने से, कभी ऐसा अवसर आ जाता है, जब आत्मा चिरंतन कल्याण का स्वामी बन जाता है। कहा भी है—

अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ।

—गीता

मघा ने कहा—इस समय कोई भी, बुरी भावना को अपने पास न फटकने देना । तुम सामान्य वृक्ष और पृथ्वी से भी हीन सिद्ध न होना । पत्थर मारने वाले को वृक्ष लौट कर पत्थर नहीं मारता । इसके विपरीत वह उसे मधुर फल देता है । वृक्ष कभी यह नहीं सोचता कि मैं पत्थर मारने वाले को मधुर फल क्यों दूं ?

क्या तुम वृक्ष के समान भी उच्च भावना सेवन करते हो ? तुम वृक्ष के मीठे फल खाते हो, पर उसके बदले में कटुकता पैदा करो, तो क्या वृक्ष से भी हीन नहीं हो, ? मान लीजिए, वृक्ष आदि तुमसे कहने लगे—'तुम कौन होते हो मेरे फल खाने वाले ?' तो तुम वृक्ष को निकम्मा समझकर उखाड़ फैंकोगे । पर जब तुम्हारे ऊपर संकट आ पड़ता है, तब तुम कहने लगते हो –'यह धर्म है किस मर्ज की दवा ? ऐसे धर्म की जरूरत ही क्या है ? यह तुम्हारी दुर्भावना नहीं है ? अतएव चाहे-जैसा संकट का समय आ जाय तो भी 'भावना तश्चित्त प्रसादनम्' इस कथन के अनुसार चित्त को सदा प्रसन्न ही रक्खो । भावना के विषय में कहने का समय नहीं है । अतएव सूत्र रूप में जो कुछ कहा गया है, उसी को यदि हृदय में स्थान दोगे तो कल्याण ही होगा ।

मघा ने अपने शिष्यों से कहा—'यह न समझना कि यह अपने कर्तव्य-पालन का परिणाम है । यह संकट कर्त्तव्य-निष्ठा की परीक्षा है, फल नहीं । प्रकृति से मैंने यह सीखा है कि जब आम

में बौर आते हैं तो कोयल 'कुहू-कुहू' कर मधुर स्वर में कूँजने लगती है। कोयल का मधुर स्वर सुन कर कौवे उसे सताने दौड़ते हैं। किन्तु कोयल यह कभी नहीं सोचती कि यह मुसीबत मेरे मधुर स्वर का फल है। कौवे उसे सताते हैं, आक्रमण करते हैं, फिर भी कोयल अपना मधुर कूँजना नहीं त्यागती।'

जब कोयल मार खाने पर भी मीठा स्वर सुनाती है, तब विवेक-बुद्धि धारण करने वाले तुम्हारे जैसे मनुष्य, गाली-गलौज का बदला गालियों में चुकाओ, यह कहाँ तक उचित है ? मार के बदले मारना क्या विवेकशीलों को शोभा देता है ?

तुम कह सकते हो—'चुप-चाप गालियाँ सहन कर लेना और मारने वाले अत्याचारी के सामने भोली-भाली गौ बन जाना, उसका मुकाबिला न करना, एक प्रकार की कायरता है। क्या हमें कायर बन जाना चाहिए ? कायर बन जाने से तो अत्याचारी का हौंसला बढ़ेगा और जगत में अत्याचार का नंगा नाच होने लगेगा। इस प्रकार परोक्ष रूप से हम चुप्पी साधकर अत्याचार की उत्तेजना में सहायक हो जाएँगे।'

यह कथन वास्तव में भूल-भरा है। सहिष्णुता, कायरता का चिन्ह नहीं, वरन वीरता का फल है। उत्तेजना का प्रसंग उपस्थित होने पर अन्तःकरण की निर्बल वृत्तियों पर विजय प्राप्त करके स्वाभाविक शांति को सुरक्षित रख सकना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। अपने ऊपर संयम का अंकुश रखना विजेताओं का धर्म है। बाढ़ आने पर नदी के प्रवाह में सभी बह सकते हैं, पर अचल—अटल रहने वाले विरले ही होंगे। इसी

प्रकार उत्तेजना की आग में जल मरने वाले संसार में बहुत हैं, और उस आग पर शान्ति का शीतल नीर छिड़कने वाले इने-गिने ही निकलेंगे। यह इने-गिने सत्वशाली पुरुष ही जगत् के पथ-प्रदर्शक होते हैं। इन्हीं पुरुषों के सहारे संसार को स्वर्ग बनाने वाले सद्गुण टिके हैं।

यह कहना कि चुपचाप अत्याचार सहने से अत्याचारी को उत्तेजना मिलती है और अत्याचार बढ़ते हैं, सर्वथा विपरीत धारणा है। अत्याचार से अत्याचार का सामना करने से अत्याचारों की परम्परा चल पड़ती है। जैसे रुधिर से रुधिर की शुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार अत्याचार से अत्याचार का शमन नहीं हो सकता। आग को ईंधन न मिले तो वह जल्दी बुझ जाती है। इसी प्रकार अत्याचार को अत्याचार का ईंधन न मिलने से शान्त हो जाता है।

मघा ने प्रकृति की शिक्षा समझाते हुए कहा—'देखो, कोई कुछ भी करे, पर प्रकृति अपना स्वभाव नहीं त्यागती। तुम भी अपना स्वभाव छोड़ कर विभाव के चंगुल में मत पड़ना! वह देखो, मदोन्मत्त हाथी हमें कुचलने के लिए सामने दौड़ा चला आ रहा है। वह हमें कुचल डाले, तो भी तुम राजा, राजकर्मचारी, हाथी या महावत पर तनिक भी क्रोध या द्वेष न करना। इन अन्यायियों के नाश होने की भावना अपने अन्तःकरण में न आने देना। इसी में सत्य-धर्म की विजय है। इन अन्याय में ग्रसे हुए लोगों पर दया-भाव रखना, इनके कल्याण की कामना करना, इनका बुरा न विचारना। हाँ, कहीं तुम्हारी भूल हुई हो तो उसे

खोजना और दूर करना। अगर तुमने कहीं भी भूल नहीं की है तो निश्चय समझना कि तुम्हारा बाल भी बांका नहीं हो सकता।'

श्री आचारांगसूत्र (प्रथम श्रुत स्कन्ध) में एक भावना बताई गई है। उसे जीवन में स्थान देने से पाप का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता। वहाँ कहा गया है:—

'एस खलु नरीयए, एस खलु मोहे, एस खलु मारे।'

अर्थात्—हिंसा रूप पातक ही नरक है, यही मोह है' और यही मार—मृत्यु है। इस पाप को आत्मा में छिपाये रखना, नरक को आमंत्रण देना है। शास्त्र कहता है—पाप को पाप ही न समझो, वरन् नरक समझो। जब आत्मा में पाप हो, तो आत्मा में ही नरक मानना चाहिए।

अनाथी मुनि ने कहा है:—

अप्पा नई वेयरणी।

—उत्तरा० २०-३६.

अर्थात्—वैतरणी नदी आत्मा में ही है।

इस प्रकार की उच्च भावना को जीवन में स्थान देने से तुम्हारे भीतर पाप को अवकाश ही न मिल सकेगा।

आज धर्म की जो निंदा की जाती है, वह वास्तव में धर्म की नहीं, धर्म के पालने वालों की निन्दा है। धर्म के पालने वाले, धर्म का पालन यदि विवेक के साथ करें तो उनके आदर्श धर्म-मय जीवन को देख कर धर्म की निंदा करने वालों को भी अपनी मान्यता बदलनी पड़े। श्री आचारांग सूत्र में बताई हुई भावना

को आत्मा में स्थान दिया जाय, तो पापों की गुंजाइश ही न रहे; और आत्मा निष्पाप बन जाय तो दूसरों पर उसका प्रभाव पड़े बिना न रहे।

मघा ने अपने शिष्यों को धर्म की महत्ता समझाते हुए कहा— 'भाइयो! हर्गिज यह न समझना कि इस संकट काल में हमारा कोई सहायक या रक्षक नहीं है, अथवा सभी पाप रूपी राजा के ही अनुचर हैं। यहाँ पाप का ही राज्य है और उससे डर कर हमारी कोई सहायता नहीं कर रहा है। विश्वास रखना, हमारा कोई सहायक और संरक्षक है, और वह है—सत्य-धर्म।'

तुम भी धर्म की महत्ता पर दृढ़ विश्वास रक्खो और भली-भाँति धर्माचरण करते जाओ। फिर चाहे जितने युवक धर्म का उच्छेद करने को तैयार हो जाएँ, फिर भी वे धर्म का उच्छेद नहीं कर सकते। गीता में भी कहा है:—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

—गीता

आत्मा को शस्त्र छेद नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, जल बहा नहीं सकता और हवा सुखा नहीं सकती। यह आत्मा तेतीस सागरोपम तक नरक की अवस्था भुगत आई है, फिर भी आज उसका अस्तित्व बना हुआ है। धर्म, आत्मा का स्वभाव है। जब आत्मा का ऐसा स्वभाव है, तो फिर धर्म का विनाश कैसे हो सकता है?

मघा ने अपने शिष्यों को भावना द्वारा आत्मिक शक्ति का परिचय दिया। मघा के हृदय में तो यह भावना साकार रम रही थी। वह दूसरों को उपदेश देने में विश्वास नहीं करता था। वह उपदेश को अपने जीवन में मूर्त रूप देता था। मघा ने जब मदोन्मत्त हाथी को सामने दौड़ते आते देखा तो, सबसे पहले मेरे ऊपर पैर रक्खे—इस विचार से वह सबके आगे लेट गया। उसने शिष्यों से अपने पीछे लेट जाने को कहा। यह हाल देख कर उपस्थित जनता में कोलाहल मच गया। लोग आपस में कहने लगे—'क्या यह चोर-लुटेरे-से जान पड़ते हैं ? इनके चेहरे शान्ति से सुशोभित हो रहे हैं—कैसी अनूठी शान्ति और उज्ज्वलता है ! पापियों के मुख पर क्या ऐसी अनुपम आभा दृष्टिगोचर हो सकती है ? लोगों को सहानुभूति मघा-दल की ओर उत्पन्न हुई और वे उस दल के सत्य के प्रबल प्रभाव से प्रभावित होकर चिल्लाने लगे। उनमें से कितनेक लोग करुणापूर्ण रुदन करने लगे। जान पड़ता था—मघा ने अपनी भव्य भावना से सबका हृदय जीत लिया है।

मदिरा के नशे में उन्मत्त और सत्ता के मद में मस्त राजा अभिमानपूर्वक कहने लगा—'देरी न करो, इन बदमाशों पर हाथी पेल दो और इनका कचराधान कर डालो।'

राजा के आदेश से महावतों ने हाथी छूटा छोड़ दिया। मदमस्त हाथी दौड़ता-दौड़ता मघा-दल के पास आया। उसने मघा को सूंघा। जैसे नाग-दमनी को सूंघते ही भाग जाता है, उसी प्रकार वह मघा को सूंघते ही पीछे लौट पड़ा। यह अद्भुत दृश्य देख कर दर्शकों की प्रसन्नता का पार न रहा। पर मघा के

विरोधी कर्मचारी कहने लगे—'अन्नदाता ! देखी आपने इन बदमाशों की बदमाशी ! ये लोग तो जादू भी जानते हैं ।'

राजा ने कहा—'तुम ठीक कहते हो । सुनते हैं, जादू में बड़ा प्रभाव होता है । संभव है, इन लोगों के जादू के प्रभाव से ही हाथी वापस लौट आया हो । पर कोई मुजायका नहीं । दूसरा हाथी लाओ और उससे इनका पतंग काट डालो ।'

राजा के हुक्म से दूसरा हाथी लाया गया, पर वह भी पहले हाथी की तरह मघा को सूंघ कर वापस भाग गया ।

इस प्रकार तीसरा, चौथा, पाँचवा, छठा और अंत में सातवाँ हाथी लाया गया । किन्तु तब आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब वे सब पहले हाथी की ही तरह मघा को सूंघ-सूंघ कर वापस लौट भागे ।

चकित कर देने वाली यह अभूतपूर्व घटना घटते देख राजा सोच-विचार में पड़ गया । उसने मन ही मन कहा—'यह प्रभाव जादू का नहीं हो सकता । इस घटना का कारण कुछ और ही होना चाहिए ।' इस प्रकार विचार कर राजा ने मघा को अपने पास बुलाया ।

राजा की आज्ञा पाते ही एक सिपाही मघा के पास गया और उससे कहने लगा—'उठो, उठो, महाराज तुम्हें बुला रहे हैं ।'

मघा—'हमें बुलाकर महाराज क्या कहना चाहते हैं ? हमें तो यह देखना है कि वास्तव में हमारे भीतर पाप है या नहीं ? अगर हम पापी हैं, तो हाथी के पैरों तले कुचल जाना ही योग्य है ।'

सिपाही—'तुम्हें जो कहना हो, महाराज से ही कहना।'

मघा—'ठीक, चलिए। तैयार हूँ।'

मघा उठा, उसने अपने शिष्यों से कहा—'मैं अभी लौट कर आता हूँ। तुम लोग इसी प्रकार लेटे रहना, रंचमात्र भी डरना नहीं। यह न समझना कि मैं तुम्हें छोड़ कर जा रहा हूँ। मैं अभी लौट आता हूँ।'

मघा राजा के पास आया। राजा ने मघा से पूछा—'तुम कोई मंत्र जानते हो?'

मघा—'जी हाँ।'

राजा—'कौन-सा मंत्र जानते हो?'

मघा—'जो काम अपने-आपको अच्छा लगता हो, वही काम दूसरों के लिए करना।' यही मेरा मंत्र है।

राजा—और क्या जानते हो?

मघा—इसके सिवाय तो मंत्र के साधन जानता हूँ।

राजा—साधन कौनसे हैं? बताओ तो सही।

मघा—किसी की हिंसा न करना, असत्य भाषण न करना किसी की चोरी न करना, व्यभिचार न करना और मदिरापान न करना। इस मंत्र के यह साधन हैं।

राजा—क्या केवल यही मंत्र जानते हो?

मघा—जी हाँ, मैं तो यही एक मंत्र जानता हूँ। इसे जान लेने पर किसी अन्य मन्त्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

राजा ने मघा का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा— 'मंत्र तो तुम्हारा बड़ा उत्तम है। क्या तुम इसी मन्त्र का प्रचार करते थे?'

मघा—'जी हाँ, मैं इसी मंत्र का प्रचार करता था।'

राजा—'तब तो तुम राज्य की सहायता करते थे। इसमें तुमने बुरा क्या किया है ?'

मघा के साथ बातचीत करके, उसके विरुद्ध शिकायत करने वाले गाँव के कर्मचारियों को बुलवा कर, राजा ने उनसे पूछा—इन लोगों ने क्या अपराध किया था ? इन्होंने गाँव वालों को क्या हानि पहुँचाई थी ?

कर्मचारी लोग राजा का प्रश्न सुनते ही हड़बड़ा गये। उन्हें यही न सूझ पड़ा कि क्या उत्तर दें ?

इस प्रकार घबराहट में पड़ा देख राजा ने समझ लिया कि वास्तव में यह कर्मचारी झूठे हैं। इन लोगों ने इस पर मिथ्या आरोप किया है। गाँव वालों से पूछ कर पता लगाना होगा।

राजा ने गाँव वालों को बुलाया। उनसे पूछा—सच-सच बताना, इन तेतीस अभियुक्तों ने कभी तुम्हें हानि पहुँचाई है ? या दूसरों को हानि पहुँचाते तुमने इन्हें कभी देखा है ?

गाँव वाले एक स्वर से कहने लगे—अन्नदाता ! इन लोगों ने हमें मदिरापान से, वेश्यागमन से, जूआ खेलने से और झगड़ा-टंटा करने से रोका है। यह हमारी हानि हो, तो इन्होंने हमें हानि पहुँचाई है। इसके अतिरिक्त और कोई हानि नहीं पहुँचाई।

राजा, ग्राम-वासियों की बात सुनकर चकित रह गया। उसने कर्मचारियों से कहा—'इन लोगों ने क्या अपराध किया है, साफ़-साफ़ बयान करो। ग्राम-वासियों का कथन तुमने सुना है। मैंने तुम्हारा विश्वास करके बेचारे निर्दोष लोगों को सताया है। इसका उत्तरदायित्व तुम्हारे ऊपर है। भविष्य में इस प्रकार की झूठी फरियाद करने का साहस कोई कर्मचारी न करे, इसलिए यह आवश्यक है कि तुम लोगों को हाथी के पैरों तले कुचलवा डाला जाय।'

यह कथन सुनकर मघा ने राजा से निवेदन किया—महाराज! यह आप क्या गजब कर रहे हैं?

राजा—ऐसे अपराधियों को ऐसी ही सख्त सजा मिलनी चाहिए।

मघा—राजन्! यह लोग अपराधी क्या, हमारे महान् उपकारी हैं। जिन लोगों ने आपके साथ मेरा साक्षात्कार कराया है, उन उपकारक पुरुषों को ऐसी सख्त सजा नहीं मिलनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सत्य की प्रभावना में भी ये निमित्त बने हैं।

राजा—भाई, तुम्हारी नीति अलग है और हमारी राजनीति अलग है। ऐसे अपराधियों को दण्ड न देकर साफ छोड़ दिया जाय, तो राज्य में अत्याचारों की धूम मच जायगी। इसे रोकने के लिए ऐसे शैतानों को दंड मिलना ही चाहिए।

मघा—आपका कथन सत्य है। पर नम्रतापूर्वक मैं यह कहना चाहता हूँ कि अगर ये लोग वास्तव में शैतान ही हैं, तो

यह शैतानियत आई कहाँ से ? आपने राज्य के कायदे-क़ानून बनाये हैं और आपने ही इन्हें कर्मचारी बनाया है। इस दृष्टि से तो सर्व-प्रथम अपराधी आप ही ठहरते हैं।

राजा सच्चा क्षत्रिय था। उसने मघा के वाक्यों की सचाई स्वीकार की और अपने को अपराधी मान लिया। कहा—मैं भी दंड लेने को तैयार हूँ और इन सब से पहले मैं हाथी के पैरों से कुचले जाने को तैयार हूँ।

मघा—आप किसलिए हाथी के पैर के नीचे रूँदने को तैयार होते हैं ?

राजा—मैंने पाप किया है। उस पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये।

मघा—महाराज ! हाथी के पैर के नीचे आकर आत्म-हत्या करने से पाप का प्रायश्चित्त नहीं होता। पाप के लिए पश्चात्ताप करने से पाप का विनाश होता है। अज्ञान के कारण आपने पाप किया था। अब आपका अज्ञान हट गया है और उसकी जगह ज्ञान प्रगट हो गया है। अगर आप ज्ञान-पूर्वक पश्चात्ताप करेंगे, तो निस्संदेह पाप का नाश हो जायगा। फिर हाथी के पैर के नीचे कुचल कर प्राण-त्याग करने की क्या आवश्यकता है ?

हमें भी अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए पश्चात्ताप करना चाहिए। हमें परमात्मा से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि—

'हुँ अपराधी अनादिनो, जनम-जनम गुना किया भरपूर के।'

इस प्रकार अपने-आपको अपराधी अनुभव करके, अपने

पाप को धोने के लिए पश्चात्ताप करोगे, तो तुम भी निष्पाप और पवित्र बन सकोगे।

मघा ने राजा से कहा—अज्ञान के कारण ऐसे-ऐसे अनेक जुल्म बन गये होंगे, पर अब अज्ञान के बदले ज्ञान का प्रकाश हो गया है। अब तमाम जुल्मों को दूर कर आप स्वयं पवित्र बनिये और फिर दूसरों को भी अपने समान पवित्र बनाइए।

राजा—तुम यथार्थ में सत्पुरुष हो। जान पड़ता है, मानो साक्षात् ईश्वर सामने आ खड़ा हो। जब तुम्हें देखता हूँ, तब ऐसा लगता है जैसे ईश्वर को देखता होऊँ। सचमुच तुमने सच्चा आत्मबल पा लिया है।

राजा इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने सिंहासन से उठकर मघा का हाथ पकड़ा और कहने लगा—'यह राजसिंहासन तुम्हारे योग्य है। तुम्हारे सामने मुझे तो जमीन पर बैठना चाहिये।'

मघा ने नम्रतापूर्वक कहा—'राज्य का भार मुझ पर न लादिये। राज्य का भार सिर पर लादने से मैं जो सेवा-कार्य कर रहा हूँ वह न कर सकूँगा। आप अब निष्पाप बन गये हैं। आप ही सुख से राज्य कीजिए और प्रजा को सुखी बनाइए।'

राजा ने कहा—'हे सत्पुरुष! आपके दर्शन से मुझे परमात्मा की जैसी प्रतीति हुई है वैसी प्रतीति लाखों पुस्तकें पढ़ने से और लाखों विचार करने से भी नहीं हुई थी। वास्तव में आपके भीतर ईश्वरीय बल है। अब मैं अच्छी तरह समझ रहा हूँ कि—

सुने री मैंने निर्बल के बल राम ।

आप स्वयं जानबूझकर निर्बल बन गये और किसी के प्रति वैर भाव न रक्खा तो आप में राम-बल प्रकट हुआ । आपने यह भी न सोचा कि—अमुक मेरा अहित करता है, तो मैं भी उसका अहित करूँ । आपने अहित करने वाले का भी हित चाहा । अब मैं भी समझ पाया हूँ कि दूसरे किसी को अहितकारक समझना अज्ञान है । वास्तव में अपना पाप ही अपना अहित करता है । दूसरे में अहित करने का सामर्थ्य होता, तो आपको सूंघ कर हाथी क्यों लौट कर भाग जाता ?'

तुम कह सकते हो—दूसरे भी दूसरे का अहित कर सकते हैं । राजसत्ता तो साँप की तरह दूसरे को डसने में जरा भी विलंब या विचार नहीं करती । पर यह कथन सही नहीं है । इस कथन से पहले जरा अपनी पवित्रता-अपवित्रता पर तो एक नजर डाल लो । अगर तुम स्वयं पवित्र नहीं हो, तो दूसरे को दोषी ठहराने का तुम्हें क्या अधिकार है ? सिद्धान्त तो यह है—

सत्यं शिवं सुन्दरम् ।

जो सत्य है वह शिव कल्याणकारी है, और जो कल्याणकारी है, वही सुन्दर है । जिसमें विकृति को स्थान नहीं, वही सुन्दर एवं शिव है । इसलिए दूसरे के छिद्र न देखो । अपने जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा करो । जितने अंशों में सत्य की प्रतिष्ठा होगी, उतने अंशों में अवश्य कल्याण होगा ।

राजा ने मघा से कहा—राज्य-शासन अपने हाथ में लीजिए और मुझे बताइए कि राज्य-शासन किस प्रकार करना चाहिये ?

मघा ने कहा—राज्य-शासन किस प्रकार चलाना चाहिए ?, आप यही जानना चाहते हैं न ? ठीक है। मैं यह बताऊँगा।

मघा के समान सच्चे प्रजा-सेवक कर्मचारी आज खोजने पर भी नहीं मिलते। आजकल के कर्मचारी सर्व प्रथम अपना बँगला सजाते हैं। यह लोग राज्य की सेवा करते हैं या अपने पेट की सेवा करते हैं, यह कहना कठिन है। पर इतना तो कहना ही चाहिये कि अपने परिश्रम से उपार्जन करके खाने वाले और प्रजा की सेवा करने वाले कर्मचारियों की रीति-नीति कुछ और ही प्रकार की होती है।

ग्रंथों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि राजा ने मघा को अपना प्रधान-मंत्री बनाया और उसके साथियों को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया।

मघा ने अपने शिष्यों से कहा—देखो, हम लोग निष्पाप थे, इसलिये हाथी भी हमें न कुचल सका। जब हाथी जैसा पशु भी पाप और पुण्य का भेद समझता है, तो हमें कम से कम इतना अवश्य समझना चाहिए कि—परिश्रम किये बिना खाना हराम है, और पाप-प्रवृत्ति से सर्वथा बचने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध होना चाहिए।

मघा ने प्रधान का पद स्वीकार कर मगध देश को खूब सुखी और सम्पन्न बना दिया। मगध देश की प्रजा सुख से रहने लगी।

ग्रंथ के कथनानुसार यह कथा भगवान् महावीर और राजा श्रेणिक के समय से पहले की है। इनसे पहले मघा के शासन-

प्रबन्ध से मगध देश इतना धर्म-प्रधान बन गया था कि इन्द्र भी इस प्रदेश को हाथ जोड़ कर अपनी श्रद्धा व्यक्त करता था।

तुम लोग भी अपने हृदय में धर्म को स्थापित करो। इसके साथ ही यह निश्चय करलो कि—'जो बात तुम्हें अच्छी लगे, वही दूसरे के लिए करनी चाहिए और जो तुम्हें अच्छी न लगे, वह दूसरे के प्रति भी नहीं करनी चाहिए।' तुम जो दृढ़ निश्चय करो उसे कठोरता से पालन करना। जिन व्रतों या प्रत्याख्यानों को स्वीकार करो उन्हें आत्मसाक्षी से बराबर पालना। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा।

अन्त में, मैं अपनी भूलों के लिए तुम सब से क्षमा-याचना करता हूँ। मेरी हार्दिक भावना है कि तुम सब का कल्याण हो और तुम मेरे शरीर से नहीं, वरन् मेरे सद् विचारों से प्रेम करो।

खादी और जैनदृष्टि

गाँधीजी कहते हैं—'मैं नहीं जानता, मेरी जयंती कब आती है। मुझे तो दो चीजें प्यारी हैं। भारत, यदि अहिंसावादी बना रहना चाहता है, तो मैं भारत के सामने दो विचार प्रस्तुत करता हूँ—एक तो यह कि खादी पहनो, और दूसरा यह कि चर्खा चलाओ।' यह गांधीजी का कथन है। गांधीजी के इस कथन पर जैन दृष्टि से विचार करना आवश्यक है, अतएव आज इसी विषय पर विचार किया जाता है।

कुछ लोग कहते हैं—हम खादी कैसे पहनें? खादी में जूं पड़ते हैं और खादी धोने में पानी अधिक खर्च होता है। अतएव खादी पहनने में हिंसा अधिक होती है। इसके अतिरिक्त जैनधर्म राग-द्वेष करने का निषेध करता है और खादी पहनना तथा विलायती वस्त्र न पहनना, यह क्या राग-द्वेष नहीं है?

'जिसने रागद्वेष को जीत लिया है वह चाहे तो खादी पहनता है, चाहे तो विलायती वस्त्र पहनता है—उसके मन में

किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता। जैन दृष्टि के अनुसार खादी और विदेशी वस्त्र में से किसी पर राग और किसी पर द्वेष रखना उचित नहीं है।'—गांधीजी खादी पहनने के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं, उसके विरुद्ध जैन दृष्टि से यह तर्क किया जा सकता है—किया जाता है। हमें गांधीजी के कथन पर और उसके विरुद्ध उपस्थित किये जाने वाले तर्क पर तटस्थ रह कर विचार करना है।

कहा जाता है कि खादी में जूं पड़ जाते हैं और उसे धाने में अधिक पानी काम में लाना पड़ता है। परन्तु इस प्रकार आरंभ-समारंभ देखने बैठेंगे, तब तो अनेक अनीतियम कार्य करने पड़ेंगे। उदाहरण के लिए मान लीजिए एक आदमी कहता है—'मैं ब्रह्मचर्य पाल नहीं सकता, और विवाह करता हूँ तो आरंभ-समारंभ होता है। इसके अतिरिक्त विवाह करने से संतान उत्पन्न होगी और झंझटें बेहद बढ़ जाएँगी। अतः इस आरंभ से बचने के लिए, उत्तम उपाय यह है कि रुपया-दो रुपया देकर, वेश्यागमन करके काम-वासना को तृप्त कर लिया जाय।' अगर कोई मनुष्य ऐसा कहे तो तुम उसे क्या कहोगे? निस्संदेह तुम्हें कहना पड़ेगा कि ऐसा करना महा पाप है। इस प्रकार दिखाऊ आरंभ को पकड़ लिया जाय और परोक्ष रूप से महा आरंभ आदि घोर पापों पर नजर न डाली जाय, तो नैतिक जीवन से हाथ धो लेने पड़ेंगे और जीवन में अनीति का राज्य हो जायगा। संसार में जितने भी कृत्य हैं, उन सब के साथ पाप और पुण्य दोनों लगे रहते हैं। ऐसी अवस्था में हमें पाप-पुण्य की न्यूनता और अधिकता का ही विचार करना चाहिए।

जिस कृत्य से पाप अधिक होता हो, उसका त्याग पहले करना चाहिए। वेश्यागमन और विवाह के विपय को ही लीजिए। यदि वेश्यागमन भयंकर पाप है और नैतिक विवाह करना भयंकर पाप नहीं है, तो पहले वेश्यागमन का त्याग करना श्रेयस्कर है। यही बात वस्त्र के विपय में भी समझनी चाहिए। कपड़े के विषय में यदि गहरा विचार करोगे तो मालूम होगा कि वेश्यागमन से देश को और धर्म को जितनी हानि पहुँची है, उससे कहीं अधिक हानि चर्बी लगे हुए वस्त्रों के उपयोग से हुई है। जैसे परम्परा की अपेक्षा वेश्यागमन से अधिक पाप लगता है, उसी प्रकार परम्परा से चर्बी के वस्त्रों का उपयोग करने से अधिक पाप होता है। ऐसी स्थिति में आरंभ का बहाना करके जैसे विवाह की अपेक्षा वेश्यागमन को अल्पारंभी नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार आरंभ के बहाने खादी के विरुद्ध भी नहीं कहा जा सकता।

संभव है चर्बी के वस्त्र धोने में कम पानी की आवश्यकता होती हो, पर जरा इस बात पर भी तो विचार करो कि परंपरा से उसमें कितना पाप समाया हुआ है! खादी धोने में अपेक्षा-कृत अधिक पानी का उपयोग करना पड़ता होगा, पर चर्बी के वस्त्रों की अपेक्षा खादी के पाप का परम्परा से विचार करोगे तो दोनों का भेद साफ मालूम हो जायगा।

भारतवर्ष पर राग और विलायत पर द्वेष क्यों किया जाय? इसके समाधान में मैं कहना चाहता हूँ कि जैनधर्म राग-द्वेष का विधान कदापि नहीं करता। पर जब तुम सांसारिक उत्तरदायित्व के बोझ से लदे हुए हो, तो नैतिक राग-द्वेष से बच नहीं सकते।

उदाहरणार्थ-तुम अपने पुत्र को अपना मानते हो, पड़ौसी के पुत्र को अपना पुत्र नहीं समझते। पड़ौसी के पुत्र पर दया और स्नेह तो तुम रखते हो, पर उसे अपना ही पुत्र तो नहीं मानते! इसी प्रकार भारत तुम्हारा देश है, तुम भारत में रहते हो, भारत में ही तुम्हारा पालन-पोषण हुआ है, अतएव भारत पर अगर तुम्हारा राग है, तो वह स्वाभाविक है।

भारतवर्ष पर प्रेम रखने का अर्थ यह नहीं है कि तुम इंग्लैंड पर द्वेष रखते हो। जहाँ तुम भारत से प्रेम करते हो वहाँ इंग्लैंड पर भी तुम्हें दया-भाव रखना चाहिए। आज वह देश भी खराब हो रहा है। तुम उस देश के कपड़े का व्यवहार करते हो, इस कारण वह देश दूसरे देश का खून चूसना सीख गया है और विलासी बन गया है। अगर तुम चर्बी लगे वस्त्रों का पहनना छोड़ दो, तो उस देश में चर्बी के लिए होने वाली हिंसा रुक सकती है। इसके साथ ही उस देश के निवासियों में जो बुराइयाँ घुस गई हैं वे दूर हो सकती हैं और उनकी दूसरों का रक्त चूसने की आदत भी मिटाई जा सकती है। इन सब बातों को भली भाँति समझ लो। फिर करोगे तो वही, जो तुम्हें रुचिकर होगा। अलबत्ता, इस तथ्य को समझ कर प्रवृत्ति करोगे, तो महा-आरंभ से बच सकोगे। शास्त्रों में श्रावक को अल्पारंभी, अल्पपरिग्रही कहा है और यह भी कहा है कि श्रावक धर्म-मार्ग के अनुसार अपनी आजीविका चलाता है। श्रावकों के वर्णन में कहा गया है कि, श्रावकों ने आरंभ का सर्वथा त्याग नहीं किया था, फिर भी वे महा-आरंभ से मुक्त थे। जो महा-आरंभ से मुक्त रहे हैं, उन्हें अल्पारंभी होने पर भी

शास्त्र 'धर्मी' बतलाते हैं—पापी नहीं कहते। अतएव चर्बी के वस्त्र और खादी के वस्त्रों की तुलना करो। देखो—किससे अल्प आरंभ होता है और किससे महा-आरंभ होता है। फिर विवेक के साथ, जो वस्तु महा-आरंभजनक जान पड़े, उसका त्याग करो।

खादी के कपड़े धोने में अधिक पानी लगता है, इसी कारण खादी की निन्दा करना उचित नहीं है। साथ ही चर्बी लगे कपड़ों को धोने में कम पानी की आवश्यकता होती है, इतने मात्र उन्हें खादी की अपेक्षा श्रेष्ठतर समझना भी ठीक नहीं है। इनके पीछे कितनी महा-आरंभ की परम्परा विद्यमान है, इस बात का विचार अवश्य करना चाहिए। खादी के उपयोग से कदाचित अधिक पानी की हिंसा होती हो, किन्तु चर्बी लगे कपड़ों से तो मनुष्यों तक की हिंसा होती है!

मैं यह नहीं कहता कि तुम खादी पहनो; मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि महा-आरंभ और अल्प-आरंभ को समझो और महा-आरंभ से बचो। अल्पारंभ से भी छूटने की भावना रक्खो। कदाचित् अल्प-आरंभ से न बच सको, तो महा-आरंभ से तो अवश्य ही बचो। कपड़ों का तुम सर्वथा त्याग करके नग्न रह सको तब तो ठीक है; अगर ऐसा न कर सको और कपड़ा पहनना अनिवार्य समझो तो महा-आरंभ का तो त्याग करो। जिस कपड़े में चर्बी लगी हो, वह आरंभ की दृष्टि से त्याज्य है।

खादी पहनने का विधान करना जैन साधु की भाषा की

दृष्टि से उचित नहीं है। जैन साधु प्रवृत्ति का उपदेश नहीं देते। उनका उपदेश निवृत्ति रूप होता है। साधारण मनुष्य कह सकता है कि—'पानी छान कर पीओ।' पर हम ऐसा नहीं कह सकते। हम तो यही कह सकते हैं कि—अनछना पानी मत पीओ। हम साधुओं को भाषा का विवेक रखना भी चाहिए। लड़की का वर कहो या दामाद (जमाई) कहो, दोनों का अर्थ एक ही है। किन्तु एक कथन विवेकयुक्त है, जबकि दूसरा अविवेकपूर्ण है। इस प्रकार तात्पर्य एक-सा होने पर भी भाषा की दृष्टि से उसमें अन्तर हो जाता है। अतएव मैं यह कहता हूँ कि चर्बी वाला कपड़ा त्याज्य है।

गांधीजी कहते हैं—खादी पहनो और चर्खा चलाओ। उनके कथन का आशय यह है कि—जब मैं खादी पहनने को कहता हूँ, तब खादी आसमान से तो टपक पड़ेगी नहीं। खादी उत्पन्न करने के लिए रचनात्मक कार्य करना पड़ता है। तभी खादी तैयार होती है। चर्खा चलाने से खादी बनती है और कपड़े के निमित्त देश का जो पैसा परदेश में जा रहा है, वह भी बच सकता है। इस प्रकार चर्बी लगे कपड़े के लिए होने वाली हिंसा से भी बच जाओगे और साथ ही विदेश में जाने वाला पैसा—जो पाप के कामों में सहायक होता है—देश में रहेगा और उससे गरीबों का पालन होगा। चर्खा के विषय में गाँधीजी का यह कथन है। इस कथन को जरा जैन-दृष्टि से देखिए।

कहा जाता है कि गांधीजी ने जैनों के महाव्रत धारण नहीं किये हैं। गांधीजी स्वयं भी नहीं कहते कि वे महाव्रतधारी हैं।

पर मेरे विषय में यह कहा जा सकता है कि—'आप महाव्रतधारी हैं, अतः जैन-दृष्टि से आपको चर्खे का निषेध करना चाहिए। क्योंकि चर्खा गुंजार करता हुआ घूमता है और उससे जीव हिंसा होती है। अतएव आपको चर्खा न कातने का ही उपदेश देना चाहिए।'

अगर तुम लोग बिलकुल कपड़े पहनते न होते, तो यह उपदेश देकर मैं अपने-आपको धन्य मानता। मगर तुम कपड़ों का व्यवहार करना नहीं छोड़ सकते। ऐसी दशा में चर्खा न चलाने का उपदेश देना, तुम्हें एक महान् पातक में पटकना होगा। मान लीजिए एक बाई चक्की चलाकर, आटा पीस कर खाती है। मैं उसे चक्की न चलाने का उपदेश देकर उसे चक्की चलाने से रोक देता हूँ। पर उस बाई को खुराक के लिए आटे की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी अवस्था में वह मशीन से चलने वाली चक्की का सहारा लेगी और मेरे उपदेश के कारण अल्प-आरंभ के बदले महा-आरंभ के पाप में पड़ जायगी। इसके बदले यदि मैं यह उपदेश दूँ कि तुम मशीन का पिसा आटा खाना छोड़ दो, तो वह कह सकती है कि इस अवस्था में मुझे हाथों चक्की चलानी पड़ेगी। पर क्या चक्की चलाने का पाप मुझे लगेगा ? नहीं। जब मुझे मशीन के आटे के त्याग का उपदेश देना पड़ेगा, तो मुझे यह बताना पड़ेगा कि मशीन और चक्की से होने वाले पाप में कितना अन्तर है ? मुझे यह भी कहना पड़ेगा कि मशीन से पिसे और चक्की से पिसे आटे में नैतिक दृष्टि से इतना ही अन्तर है जितना अन्तर मक्खन निकले दूध में और बिना मक्खन निकले दूध में है। दीखने में

तो दोनों प्रकार के दूध एक-से रंग के दिखाई देते हैं परन्तु वास्तव में दोनों में बहुत भेद है। इसी प्रकार मशीन-चक्की और हाथ-चक्की से होने वाले आरंभ में भी महान् और अल्प का अन्तर है। मशीन-चक्की में महा-आरंभ है और हाथ-चक्की में अल्प-आरंभ है। इस प्रकार नैतिक और पारमार्थिक दृष्टि से मशीन-चक्की का आटा खाना त्याज्य है। चर्बी से बना हुआ घी और बाजारू दूध-दही आदि त्याग दोगे तो अहिंसा की अपूर्व ज्योति से तुम्हारा हृदय जगमगा जायगा। इस प्रकार जब महा-आरंभ से बचना होता है (और सम्पूर्ण-आरंभ का त्याग करना शक्य नहीं होता) तब अल्प-आरंभ के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही नहीं रहता। आरंभ मात्र से तो उसी अवस्था बचा जा सकता है जब आरंभ-जनक कृत्यों को और उसके फल को सर्वथा त्याग दिया जाय। इसलिए गांधीजी कहते हैं—अगर खादी पहनना है तो चर्खा चलाने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है। चर्खा नहीं चलाओगे तो मील का आसरा खोजना पड़ेगा। अतएव यह विचारना आवश्यक है कि अधिक आरंभ मील में होता है या चर्खे में? मील में अधिक आरंभ होता है, इस सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है? वह मील, जिसमें घोर आरंभ होता है, चर्खा चलाये विना बंद नहीं हो सकती; और मील बंद हुए विना महा-आरंभ रुक नहीं सकता।

गांधीजी वैश्य हैं, व्यापारी जाति में जन्मे हैं। वे ऐसी बात बताते हैं, जिसमें खर्च थोड़ा हो और लाभ अधिक हो। इसी कारण वे तुमसे महा-आरंभ से बचने के लिए कहते हैं। तुम

व्यापार कैसा पसंद करते हो ? जिसमें खर्च थोड़ा और ला अधिक हो, या जिसमें लाभ थोड़ा हो और खर्च अधिक हो हाँ, तुम व्यापार मात्र को त्याग दो, तो बात दूसरी है। प तुम गृहस्थ हो और आजीविका के साधन का त्याग नहीं क सकते। और हम भी तुम्हें भीख माँगकर खाने को नहीं क सकते। यदि कोई साधु ऐसा आदेश देने लगे तो वह अविवेकं ही कहा जायगा। इस प्रकार जब भीख माँग कर खाना इष्ट नहीं है, तो व्यापार के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या है ? कृषि, व्यापार आदि नीतिपूर्ण उपायों से ही जीवन-निर्वाह हो सकता है अतएव इन सबको छोड़-छाड़ कर भीख माँगने का उपदेश तुम्हें नहीं देता; पर मैं यह अवश्य कह सकता हूँ कि पन्द्रह कर्मादानों का त्याग करो। इस प्रकार गांधीजी के कथनानुसार चर्खे का आश्रय लेने से, मील द्वारा होने वाले पाप से छुटकारा मिल सकता है। महा-आरंभ से बचकर, अल्प-आरम्भ से आजीविका उपार्जन करने या जीवन-निर्वाह करने में बुराई क्या है ? जैन दृष्टि से ऐसे कृत्य को किस प्रकार बुरा कहा जा सकता है ?

यह आशंका की जा सकती है कि शास्त्रों में क्या कोई ऐसा उदाहरण मिलता है, जिससे यह जाना जाय कि पहले भी किसी ने चर्खा चलाया था ? इस संबंध में यही कहना है कि खोज करोगे तो शास्त्रों में ऐसे उदाहरण मिल सकेंगे।

शांकरभाष्य में जो कुछ कहा गया है, उस दृष्टि को सन्मुख रखते हुए जैन शास्त्रों पर दृष्टि-निपात करोगे तो जैन शास्त्रों का महत्व समझ सकोगे। शांकरभाष्य में अर्थवाद के तीन भेद

बताये गये हैं—(१) अनुवाद, (२) गुणवाद और (३) सद्भूत अर्थवाद। किसी दूसरे प्रमाण से सिद्ध वस्तु के गुण-दोष कहना अनुवाद है। जैसे—अग्नि शीतलता मिटाती है, पानी प्यास बुझाता है, इत्यादि कथन अनुवाद हैं, क्योंकि यह दोनों बातें अनादि काल से प्रसिद्ध हैं और प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं। दूसरा भेद गुणवाद है। जैसे अमुक स्त्री चन्द्रमुखी है। यद्यपि स्त्री का मुख चन्द्रमा नहीं होता, परन्तु उसके मुख पर शीतलता और सौम्यपन होने के कारण—जो चन्द्रमा के विशेष धर्म हैं—उसे चन्द्रमुखी कहा जाता है। अतएव ऐसा कथन गुणानुवाद है। तीसरा भेद सद्भूत अर्थवाद है। जैसे—स्वर्ग और नरक नहीं हैं, इस प्रकार कहना। ऐसा कहने वाले से अगर कोई पूछे कि—तुम्हारा कथन किस प्रमाण से सिद्ध है? तो वह कहेगा—क्या किसी ने स्वर्ग-नरक को देखा है? इसके उत्तर में कोई यह कहे कि—क्या तुम यह देख आये हो कि स्वर्ग-नरक नहीं हैं? अगर तुम देख नहीं आये तो निषेध कैसे करते हो? इस प्रश्न के उत्तर में पूछने वाला कहेगा कि–स्वर्ग-नरक का अस्तित्व सिद्ध करने वाला सद्भूत प्रमाण है। किसी भी अन्य प्रमाण के विषय में सन्देह हो सकता है, परन्तु शास्त्र के विषय में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता। और जब तुम, स्वर्ग-नरक नहीं हैं, ऐसा देख नहीं आये हो; तो तुम किस प्रमाण से उनका खंडन करते हो? जो वीतराग-प्रणीत शास्त्र है वह सद्भूत प्रमाण है। इस प्रकार जिस बात के बिना, दूसरे प्रमाण का खंडन नहीं किया जा सकता, उसका प्रतिपादन वीतराग-भाषित शास्त्रों में है, यह बात सद्भूत अर्थवाद है। इस प्रकार

देखना चाहिए कि शास्त्र में कहीं चर्खा चलाने का प्रमा
मिलता है या नहीं ?

गांधीजी चर्खा चलाने को कहते हैं, इसलिए मैं उस का
को आरम्भ-हीन नहीं कहता। किन्तु जो बात जिस स्वरूप में है
उसे उसी प्रकार कहना चाहिए। पूज्य श्री श्रीलालजी महारा
जब काठियावाड़ में विराजते थे, तब नानालाल कवि और हरि
शंकर पंड्या उनसे मिले। उन्होंने गांधीजी के विचार पूज्य-श्री
को बतलाये। इससे पहले पूज्य-श्री ने गांधीजी के विचार नहीं
सुने थे। जब उन्होंने गांधीजी के विचार सुने तो कहा—'यह
विचार तो मेरे हृदय के विचार हैं। गांधीजी बुरा क्या कहते हैं?
इस प्रकार जो बात संगत थी, पूज्य-श्री ने भी वह स्वीकार की
थी। इस प्रकार जो सत्य होगा उसे मैं सत्य ही कहूँगा, जो
असत्य होगा उसे असत्य कहूँगा, और ऐसा कहने से मैं रुक
नहीं सकता।

सूयगडांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के उपोद्‌घातकार के
निर्युक्तिकार ने जो वर्णन किया है और उसके टीकाकार ने जो
स्पष्टीकरण किया है, उसमें आर्द्रकुमार की कथा आती है। उस
कथा में बतलाया गया है—आर्द्रकुमार मुनि हो गये थे और
किसी स्थान पर ध्यान-मग्न खड़े थे। वहीं पास में कुछ बालाएँ क्रीड़ा
कर रहीं थीं। उनमें श्रीमती नामक एक धनाढ्य की पुत्री
भी थी। वे बालाएँ दौड़-दौड़ कर खंभा पकड़ती थीं और
जिस खंभे को पकड़ती थीं उसी को अपना पति कह देती थीं।
श्रीमती को यह न मालूम पड़ा कि यह मनुष्य है। आर्द्र

कुमार अँधेरे में खड़े थे। श्रीमती ने दौड़कर, आर्द्रकुमार को खंभा समझ कर पकड़ लिया और कहने लगी—'यह मेरा पति है।' उसकी सखियों ने कहा—'अरी तू धोखा खा रही है, वह खंभा नहीं—पुरुष है।' कथा में यह भी लिखा है कि श्रीमती आर्द्रकुमार की पूर्वभव में पत्नी थी। पूर्वभव के संस्कार वर्तमान-भव में भी प्रायः विद्यमान रहते हैं, इस कारण श्रीमती हठ पकड़कर वहीं बैठ रही। श्रीमती के पिता को जब यह वृत्तान्त विदित हुआ तो वह उसे समझाने के लिए वहाँ आया और उसने समझाने का भरसक प्रयत्न किया। कहा—'यह मुनि तेरे योग्य पति नहीं हैं। यह मेरे घर के योग्य जमाई भी नहीं हैं।' पर श्रीमती अपने हठ से टस से मस न हुई। लाचार हो पिता ने सोचा—'जब श्रीमती विवाह करेगी ही, तो मैं क्यों वृथा हठ करूं? मैं क्यों उसे रोकूं?' इस प्रकार सोचकर और अनेक तरह से श्रीमती की परीक्षा करके उसने श्रीमती को उसकी इच्छा-नुसार चलने की स्वतन्त्रता दे दी। उस समय वहाँ सुवर्ण-मोहरों की वृष्टि हुई। वहाँ का राजा सुवर्ण-मोहरें देखकर ललचाया और उन्हें लेने को उतारू हो गया, परन्तु दैवी कोप के कारण उसे अपना विचार बदलना पड़ा। यह सब विचित्र घटना देख कर आर्द्रकुमार सोचने लगे—'देवता जिसकी सहायता करते हैं और जो मुझे हृदय से चाहती है, उसे किस प्रकार अस्वीकार किया जाय?' इस प्रकार विचार कर आर्द्रकुमार ने श्रीमती से कहा—'अप्सराओं में भी मुझे मोहित करने की शक्ति नहीं है, पर तुम्हारी सरलता और प्रेम ने मुझे मुग्ध कर लिया है। तुम्हारे निश्चल निश्चय ने मुझे चंचल बना दिया है। पर पहले एक बात तुम्हें

स्पष्ट बतलानी होगी। यह बताओ—तुम्हारे साथ मुझे कितन
दिन रहना होगा ? मेरे हृदय में वैराग्य है और विषय-वासन
उसे दबा नहीं सकती। फिर भी तुम्हारे स्नेह की खातिर ही
तुम्हारा साथ देना चाहता हूँ।' श्रीमती ने बारह वर्ष तक आर्द्र
कुमार के साथ रहने की प्रार्थना की। आर्द्रकुमार वचन-बद्ध ह
कर श्रीमती के साथ रहने लगे। आर्द्रकुमार से श्रीमती को पु
की प्राप्ति हुई। श्रीमती अपने पति के बिछुड़ने के दिन गिनत
रहती थी। जब उनके जाने का दिन सन्निकट आया, तो उस
चिंता होने लगी। वह सोचती—'पति तो मुझे छोड़ कर चल
जाएँगे, पर उनके जाने के बाद मैं अपना जीवन कैसे व्यती
करूँगी ?' देवों ने स्वर्ण-वृष्टि द्वारा बारह करोड़ मोहरें श्रीमत
को दी थीं और उसके धनवान पिता ने भी धन दिया होगा
पर वह विचारती थी—'यह सब धन और वैभव मेरे आमोद
प्रमोद के लिए नहीं है। अगर मैं इस धन के आधार पर रही
तो मेरा शील सुरक्षित न रह सकेगा। इस सारे धन पर पुत्र का
अधिकार है। फिर भी जीवन-निर्वाह के लिए कोई न कोई
आधार तो चाहिए। मगर किसका आधार लूं—किस सहारे
जीऊँ ? पुत्र अभी बालक है, अन्यथा संयम धारण करना श्रेय-
स्कर था। तब जीवन-निर्वाह के लिए चर्खा चलाना ही एक-मात्र
उत्तम उपाय है। यद्यपि पति के वियोग से मैं अनाथ बन रही हूँ,
मगर चर्खा मुझे सनाथ बनाये रक्खेगा।'

मुनि आर्द्रकुमार यद्यपि गृहस्थ हो गये थे, फिर भी उनके
हृदय-पटल से धर्म के संस्कार धुल नहीं गये थे। ऐसा होता तो
वह दोबारा मुनि न बनते। चर्खा चलाने में आरम्भ-समारम्भ

होता है, यह बात आर्द्रकुमार की पत्नी नहीं जानती थी, ऐसी कल्पना करना असंगत है। फिर भी वह चर्खा चलाती और सोचती थी—"जब पति मुझे त्यागकर चले जायँगे, तो मैं अपना धर्म किस प्रकार निभा सकूंगी ? मेरे पास धन है, पर उसका आश्रय लेने से मैं विकार का शिकार बन जाऊँगी। अतः चर्खा कातना और उसकी सहायता से जीवन बिताना ही मेरे लिए कल्याणकर है। चर्खे की सहायता लेने से मेरे शील की भी रक्षा होगी और मेरा धर्म भी बचा रहेगा। इसके अतिरिक्त इससे मेरी आजीविका भी चल जायगी। जब दूसरे काम में अधिक फँस जाऊँगी, तब चर्खा कम चला सकूंगी और इससे खाने को भी कम मिलेगा। अगर मैं अधिक खाना चाहूँगी, तो मुझे अधिक समय तक चर्खा चलाना पड़ेगा। इससे लाभ यह होगा कि मैं अपना समय व्यर्थ बर्बाद न कर सकूंगी और निठल्लेपन से आने वाले विकारों से भी बच पाऊंगी।"

मैं जो शब्द बोल रहा हूँ, कथा में लिखे नहीं हैं। जिस प्रकार बीज से वृक्ष का विस्तार होता है उसी प्रकार मूल वस्तु का यह विस्तार है। श्रीमती ने विकारों से बचने के लिए चर्खे का आश्रय लिया था। आज विधवा स्त्रियाँ चाहे जितना खाएँगी, पीएँगी, पर कोई उनकी ओर उँगली नहीं उठाएगा। पर अगर वह चर्खा चलाना आरम्भ करेंगी तो निन्दा का बाजार गर्म हो उठेगा। तात्पर्य यह है कि श्रीमती ने सादगी से जीवन-यापन करने के लिए चर्खे का सहारा लिया था। आज गांधीजी भी सादा जीवन बिताने के लिए चर्खा चलाने की बात कहते हैं। इस कथन में जैन-दृष्टि से बाधा क्या है ? जिससे

अहिंसा का पालन होता हो और महा-आरम्भ से छुटकारा मिलता हो, उस वस्तु को स्वीकार करना जैन-दृष्टि से विरुद्ध नहीं है, और कदाचित् कोई अहिंसा के विरुद्ध कुछ कहे तो उसे अस्वीकार कर देना चाहिए। कहने वाला चाहे कोई भी क्यों न हो, उसकी बात अगर अनुचित है तो उसका विरोध किया जाना चाहिए। वास्तविक बातों को मान्य करना चाहिए और अवास्तविक बातों का विरोध करना चाहिए।

खादी पहनने और चर्खा कातने का उपदेश देने वाले 'गांधीजी से अब तक मेरी मुलाकात नहीं हुई है। जौहरीजी ने दिल्ली में मुलाकात का प्रबन्ध किया था, परन्तु अचानक उन्हें कोई विशेष कार्य आ पड़ा और उनके संरक्षक पुरुषों ने कहा—गांधीजी की महाराज से मिलने की तीव्र इच्छा है पर इस समय अगर वे मिलने आते हैं तो दूसरे कार्य रुक जाते हैं। ऐसी दशा में आप जो कहें, किया जाय?' जौहरी को कहना पड़ा—'देश के कार्य को हम क्षति पहुँचाना नहीं चाहते।' इस प्रकार गांधीजी से मैं साक्षात् नहीं मिल सका। परन्तु उनके सिद्धान्त मैंने देखे हैं—समझे हैं। भगवान महावीर को भी साक्षात न देखने पर भी उनके सिद्धान्तों को हम देखते और मानते हैं। वास्तव में जो पुरुष अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर अहिंसा के प्रचार में लग जाता है, वही महापुरुष के रूप में पहचाना जाता है।

गांधीजी ने अपने सांसारिक सुख को छोड़ दिया, जबर्दस्त कमाई वाला बैरिस्टरी का धंधा भी छोड़ दिया और अहिंसा के प्रचार में तथा प्रजा के कल्याण में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा

दिया है। ऐसा पुरुष कोई अनुचित बात कहता है, यह कैसे कहा जा सकता है? उसके कथन का विरोध किस प्रकार किया जा सकता है? आज गांधीजी को संसार महापुरुष मानता है। अमेरिका के उच्च पादरी ने भी कहा है कि इस समय संसार में सबसे महान् पुरुष मोहनदास करमचंद गांधी है।

अमेरिका-निवासी जनता ईसाई धर्म का पालन करती है, फिर भी वह गांधीजी को महापुरुष मानती है। फिर भारत में तो उन्होंने अहिंसा का प्रचार किया है और काठियावाड़ में उनका जन्म हुआ है, अतएव भारतवर्ष और काठियावाड़ में उन्हें विशेष रूप से माननीय माना जाय तो इसमें अस्वाभाविक क्या है? भारतवर्ष और विशेषतः काठियावाड़ के लिए तो यह गौरव की बात है कि तुम्हारे यहाँ जन्मा हुआ एक पुरुष भारतवर्ष को उन्नति की ओर अग्रसर कर रहा है और समस्त संसार में एक नया प्रकाश फैला रहा है।

जिसमें जो गुण हो, हमें उस गुण को ग्रहण करना चाहिए। जो लोग नाम से बड़े हैं, पर दुर्गुणों का प्रचार करने में ही अपने बड़प्पन का प्रयोग करते हैं, उनके साथ हमारा कोई लेन-देन नहीं है।

मतलब यह है कि गांधीजी अहिंसा के लिए जो कुछ कहते हैं, वह कथन जैनधर्म का पोषक है। तुम्हें अहिंसा की बात अंगीकार करना चाहिए और हिंसा का त्याग करना चाहिए। जहाँ तक तुम गृहस्थ हो, वहाँ तक महा-आरम्भ का त्याग करने के लिए अल्प-आरंभ का आश्रय लिये बिना काम नहीं चल

सकता। किसी मांसाहारी को मांस-भक्षण का उपदेश दिया जाय, तो यह नहीं कहा जा सकता कि तुम भूखों मर जाओ। उसे तो यही कहना होगा कि - तुम्हारा जीवन अगर शुद्ध और सात्विक आहार से टिक सकता है तो अशुद्ध मांस-भक्षण का त्याग करो। मांस का त्याग करने वाले को आखिर अन्न का तो आधार चाहिए। इस प्रकार जब महा-आरम्भ का त्याग करना हो तो अल्प-आरंभ का आश्रय लेने के अतिरिक्त ओर कोई मार्ग नहीं है।

गांधीजी महा-आरंभ का त्याग कराते हैं। जो स्वयं महा-आरंभ का त्याग करता है और दूसरों से त्याग कराता है, वह अहिंसक है। इस प्रकार हिंसा के त्याग की बात स्वीकार करना जैन-दृष्टि से न बुरा है और न पापमय ही। इस बात को भली भाँति समझ कर, खादी के और चर्बी लगे कपड़ों में से, जिसमें महा-आरंभ हो उनका विवेक के साथ त्याग कर देना चाहिए। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा।

महात्माजी का मिलन

मैं तुम्हें एक बात कहना चाहता हूँ। यह बात यद्यपि देर से याद आई है, फिर भी कहने योग्य है। इसलिए थोड़े में कहता हूँ।

गांधीजी कल सवेरे आये और सन्ध्या को लौट गये। उन्हें देखने के लिए हजारों आदमी गये होंगे। पर जो लोग गये थे उनसे मैं यह पूछना चाहता हूँ कि उन्होंने गांधीजी में क्या देखा ? उनका स्थूल शरीर देखा या उनका कार्य ?

गांधीजी इस समय के सुधारक या महापुरुष गिने जाते हैं। सो क्या स्थूल शरीर की बदौलत या कार्य की बदौलत ?

कल गांधीजी यहाँ मेरे पास भी आये थे। मैंने उनकी सादगी देखी। एक छोटा-सा पंचा पहना हुआ था और एक छोटा-सा कपड़े का टुकड़ा शरीर पर ओढ़ा हुआ था! उनकी यह कितनी सादगी! इस सादगी के कारण लोग उन्हें देखने जाते हैं और बुरी तरह घेर लेते हैं। वह कहते थे—मैं आपके व्याख्यान में नहीं आ सका, क्योंकि लोग मुझे आराम से बैठने ही

नहीं देते। इस प्रकार गांधीजी दो विभागों में बँट गये हैं—एक उनका स्थूल-भौतिक शरीर, दूसरा उनका कार्य। जो लोग उन्हें देखने गये, उन्होंने क्या देखा, यह सोचते-सोचते मुझे एक चौभंगी याद आती है।

संसार में चार प्रकार के आदमी होते हैं—(१) पहले प्रकार के लोग गुण ही देखते हैं, रूप नहीं देखते। (२) दूसरे प्रकार के रूप ही देखते हैं, गुण नहीं देखते। (३) तीसरे प्रकार के लोग रूप भी देखते हैं और गुण भी देखते हैं, और (४) चौथे प्रकार के वे लोग हैं जो न गुण देखते हैं, न रूप ही देखते हैं। इस चौभंगी के आधार से, जो लोग गांधीजी को देखने गये थे, वे यह निर्णय कर सकते हैं कि उनका उद्देश्य क्या देखना था ?

'हम गांधीजी के आगे भले दिखलाई पड़ें'—इस विचार से कुछ लोग खादी पहन कर भी गांधीजी को देखने गये होंगे। इस प्रकार जिन्होंने भले दिखलाई पड़ने की गरज से ही खादी पहनी होगी, उनके संबंध में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने रूप ही देखा है, गुण नहीं देखा। कुछ लोग ऐसे भी होंगे जो सोचते हैं-गांधीजी के भौतिक शरीर को देख कर क्या करना है ? उन्होंने जो कर्त्तव्य बताया है उसी का पालन करना चाहिए। अहिंसा और सत्य के पथ पर चलने के लिए उन्होंने मांस, मदिरा और चरबी लगे कपड़ों का त्याग बतलाया है, अतएव हमें तो उनके द्वारा प्रदर्शित कर्त्तव्य को ही अपनाना चाहिये। इस प्रकार कहने और सोचने वालों ने रूप नहीं वरन् गुण देखा है, यह कहा जा सकता है।

मैंने गांधीजी की आत्म-कथा में पढ़ा है कि जब वे पहली वार विलायत जा रहे थे तब उन्होंने अपनी सम्प्रदाय के मुनि श्री वेचरजी स्वामी के समक्ष मांस, मदिरा और परस्त्री-सेवन का त्याग किया था। इसी प्रतिज्ञा की वदौलत गान्धीजी आज गान्धीजी वन पाये हैं। नहीं तो कौन जाने वे क्या होते ? वेचरजी स्वामी को मैंने देखा नहीं, केवल उनका नाम सुना है। परन्तु तुम में से कोई ऐसा होगा जिसने उनको सेवा की होगी ! इस महात्मा ने इस त्याग से खरी वस्तु को ऐसी सुदृढ़ तिजोरी में सुरक्षित कर दी कि उस त्याग से वे जगत्प्रसिद्ध हो गये। इस प्रकार त्याग कर के वे विलायत गये। वहाँ जाने पर अनेक ऐसे प्रसंग आये जिन पर किये हुए त्याग से च्युत होना संभव था, पर गान्धीजी ने दृढ़ता से यही कहा—जिन महात्मा के समक्ष मैंने त्याग किया है उन महात्मा को और जिनकी प्रेरणा से मैंने त्याग किया है उन अपनी माता को, मैं हर्गिज धोखा नहीं दे सकता। इस प्रकार गान्धीजी ने मांस, मदिरा और पर-स्त्री-सेवन का त्याग किया; और इसी त्याग के प्रताप से ही आज गांधीजी जगद्वंद्य वन सके हैं और जनता उन्हें देखने के लिए टूटी पड़ती है।

जो मनुष्य गांधीजी को देखने जाता है, पर गांधीजी ने जिन मांस, मदिरा और पर-स्त्री-सेवन रूप दुर्गुणों का त्याग किया था, उन दुर्गुणों का त्याग नहीं करता, वह भी क्या गांधीजी को समझ सका है ? वह क्या उन्हें सम्यक् प्रकार से देख सका है ?

कहने का तात्पर्य यह है कि एक ऐसे प्रकार के लोग होते हैं जो रूप देखते हैं—गुण नहीं देखते। दूसरे प्रकार के लोग

रूप देखने की उत्कंठा नहीं रखते, सिर्फ उनके बताये मार्ग पर चलते हैं। वे उनके गुण देखते हैं और उन गुणों को ग्रहण करते हैं। तीसरे प्रकार के लोग ऐसे होते हैं, जो शरीर को भी देखते हैं और कार्य का भी अनुसरण करते हैं। वे सोचते हैं—जिस कार्य से देश, जाति और आत्मा का कल्याण होता है और अहिंसा का पालन होता है, ऐसी वस्तु गांधीजी से हमें मिली है; अतएव गांधीजी के दर्शन करना चाहिए और उनके कार्यों को अपनाना चाहिए। यही हमारे लिए कल्याणकर है। तीन प्रकार के लोग तो ऐसे होते हैं। चौथे प्रकार के लोग इन सबसे निराले हैं। वे न तो गांधीजी के शरीर को देखते हैं और न उनके कार्यों का अनुसरण करते हैं। यही नहीं, वे गांधीजी की निन्दा करते हैं और छाती ठोक कर यह कहने में भी नहीं हिचकते कि—गांधीजी ने ही हमारा अहित किया है।

संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं, यह तो भगवान् ही बता गये हैं; परन्तु तुम उनमें से किस श्रेणी में रहना चाहते हो ?—अपने अन्तःकरण में इसका विचार करो।

जिनके समक्ष त्याग करने मात्र से गांधीजी मांस, मदिरा, पर-स्त्री-सेवन से बच सके, और इस कारण गांधीजी सदैव उन के प्रति कृतज्ञ रहे, तुम उन्हीं महात्मा के शिष्य हो! फिर भी अगर तुम केवल रूप को ही देखो और गुण को न देखो, तो इससे क्या होना-जाना है ? तुम जिन्हें अपना गुरु मानते हो, उनके समक्ष त्याग धारण करके गांधीजी अपनी रक्षा कर सकें और एक बार धारण किये त्याग को दृढ़तापूर्वक पालन

कर सकें; और तुम केवल उपदेश सुन कर बैठे रहो और उसे कार्य रूप में परिणत न करो, तो यही कहना पड़ेगा कि तुम रूप-दर्शी हो, गुण-दर्शी नहीं हो। स्वयं गांधीजी जिन महात्मा का उपकार स्वीकार करते हैं, उन महात्मा के शिष्य होते हुए भी अगर तुम अहिंसा की वृद्धि करने वाली बातों को जीवन में न अपनाओ, तो तुम्हें क्या कहना चाहिए? तुम दिन और रात उपदेश सुनते हो, उपदेश सुनने के लिए दूर देश से आते हो, फिर भी तुम्हारे हृदय में अहिंसा-वर्द्धक बातें नहीं उतरतीं, इसका कारण क्या है? इसके विपरीत गांधीजी ने एक ही वार के उपदेश को सदा के लिए हृदय में स्थान दिया और नाजुक से नाजुक मौकों पर भी उस उपदेश और त्याग के विरुद्ध कार्य नहीं किया, इसका क्या कारण है? इसके कारण पर अगर गहरा विचार करोगे तो ज्ञात होगा कि उनके हृदय में सच्ची साधुता के प्रति सच्ची श्रद्धा और प्रगाढ़ प्रेम है। वे कल यहाँ आये थे और कहते थे—'यद्यपि मेरे पास समय न था, पर जब मैं यहाँ आया हूँ तो आपसे मिले विना जा भी कैसे सकता हूँ!' उनके इस कथन से मालूम होता है कि सच्चे साधु-संतों के लिए उनके हृदय में कैसा और कितना स्थान है? तुम्हारे हृदय में श्रद्धा की कमी है। यही कारण है कि तुम्हारे हृदय में अहिंसा को स्थान नहीं मिलता और जिन्हें तुम अपना गुरु मानते हो उनका अहिंसा-विषयक उपदेश प्रायः निरर्थक जाता है।

साधु-संतों की यह विशेष जिम्मेवारी है कि वे तुमसे चर्बी के वस्त्रों का त्याग करावें। साधु-सन्त अपनी जिम्मेवारी को

समझें, तो अहिंसा पालन हो सकता है और तुमसे चर्वी के वस्त्र का त्याग भी कराया जा सकता है। किन्तु जब तक वे स्वयं चर्बी के वस्त्रों का त्याग नहीं करते, तब तक दूसरों से कैसे त्याग करा सकते हैं! अगर त्याग कराने का उपदेश भी दें, तो उसका प्रभाव ही क्या पड़ सकता है? गांधीजी स्वयं तो चर्वी के वस्त्र पहनें और दूसरों से त्याग करने को कहें तो उनके कथन का जनता पर असर पड़ेगा? नहीं। इसी प्रकार साधु-वर्ग जब तक स्वयं चर्वी के वस्त्रों का त्याग नहीं करता, तब तक उसके उपदेश का रंचमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ सकता।

कोई यह कह सकता है कि—साधु, गृहस्थ के घर से वस्त्र लाते हैं। इस अवस्था में उन्हें जैसे मिल जाते हैं वैसे ही पहनने पड़ते हैं। पर इस कथन में कोई जान नहीं है। जब चर्वी के वस्त्र उन्हें मिल जाते हैं, तो तलाश करने पर क्या बिना चर्बी के—खादी के—वस्त्र नहीं मिल सकते? अतएव सर्वप्रथम साधुओं को चर्वी के वस्त्रों का त्याग करना चाहिए और बाद में दूसरों को उनके त्याग का उपदेश देना चाहिए। जिन चर्वी के वस्त्रों के लिए घोर हिंसा की जाती है, उन वस्त्रों का त्याग करना ही तुम्हारे लिए उचित है। अगर तुमने अहिंसा को समझा है, अगर तुम भगवान् महावीर को समझ पाये हो, तो चर्वी के वस्त्रों का त्याग करना ही चाहिए। चर्वी के वस्त्रों का त्याग करने से स्वार्थ के साथ परमार्थ भी सधता है। इससे जीवन में सादगी आती है और अहिंसा की आराधना होती है। चर्वी के वस्त्रों के लिए कैसे-कैसे भयंकर हत्याकांड होते हैं, यह सब जानते-बूझते हुए भी उन वस्त्रों का उपयोग करना, अहिंसा की अवहेलना करना है।

कुछ लोग कहा करते हैं—हमारे पास पहले खरीदे हुए मील के कपड़े पड़े हैं, उन्हें पहन डालें तो क्या हानि है ? पर मैं कहता हूँ—अहिंसा की आराधना के लिए क्या वस्त्रों का त्याग करना भी मँहगा है ? इस पवित्र आराधना के खातिर क्या वस्त्रों का त्याग भी बड़ी चीज़ है ? अगर सभी ऐसा कहने लगें कि पहले के कपड़े पहन फाड़ें, फिर खादी की सोचेंगे, तो बहुतों के पास तो कपड़ों का इतना संग्रह होता है कि उनकी सारी जिंदगी के लिए वह पर्याप्त हो सकता है। ऐसी अवस्था में वे लोग इन कपड़ों के निमित्त होने वाली हिंसा से जीवन-पर्यन्त मुक्त ही न हो सकेंगे। अतएव अहिंसा की रक्षा के लिए हिंसा-जनक चर्बी के वस्त्रों का त्याग करना चाहिए। अहिंसा की रक्षा के लिए जैसे चर्बी के वस्त्र त्याज्य हैं, उसी प्रकार रेशमी वस्त्र भी त्याज्य हैं।

सुना है, एक गज रेशमी कपड़े के लिए हज़ारों जीवित कीड़े उकलते हुए पानी में उबालकर मार दिये जाते हैं। तुम भगवान् महावीर के शिष्य हो। अहिंसा के उपासक हो। ऐसी पापमय वस्तुओं के त्याग में ही तुम्हारा कल्याण है और इसी में भगवान् महावीर की उपासना और अहिंसा की आराधना है।

———

प्रवचन

[सरदार पटेल के आगमन पर]

ऐसी मति हो जाय दयामय, ऐसी मति हो जाय।
त्रिभुवन की कल्याण-कामना, दिन-दिन बढ़ती जाय ॥दया०॥
दूजों के सुख को सुख समझूं, सुख का करूँ उपाय।
अपने सारे दुःख सहूँ पर, पर-दुख सहा न जाय ॥दया०॥

आज व्याख्यान देने का कोई खास विषय नहीं है। पटेल साहब आये हैं, अतएव कुछ शब्द कहने हैं। तुम लोग यहाँ आये हो, पर क्या चीज लेने के लिए ? मेरे पास धरा ही क्या है ? अब जब तुम आये हो, तो इस बात का ध्यान रखना कि तुम्हारा आना खाली न जाय। अगर तुम पटेल साहब की खातिर आये हो तो, ध्यान रखना कि पटेल साहब का साथ देने के लिए आने वालों का क्या कर्त्तव्य हो जाता है ? मैंने

सुना है, कल गांधी-जयन्ती का संदेश सुनाते हुए पटेल साहब ने कहा था—'राजकोट को जो गौरव प्राप्त है उसे देखकर मुझे आनन्द होता है। पर राजकोट की दशा देखकर मुझे खेद भी होता है।' इसी राजकोट में गांधीजी ने अपना बाल्यकाल विताया है। आज भी उसका स्मारक विद्यमान है। इस राजकोट में बाल्य-काल विताने वाले गांधीजी आज कैसा सादा जीवन विता रहे हैं? उन्होंने अपने जीवन की सादगी से यह बता दिया है कि संसार आडम्बर का भूखा नहीं है। उसे सादगी और सदाचार की आवश्यकता है। सदाचार का पालन करते हुए, सादगी धारण करके, जगत् के समक्ष खड़ा रहना, सबसे उत्तम बात है। ऐसी उन्नत-वृत्ति वाला पुरुष बोले तो ठीक ही है; कदाचित् न बोले तो भी उसके द्वारा जगत् का कल्याण होता है। गांधीजी जैसे जगत्प्रसिद्ध पुरुष के, जो राजकोट में बाल्यावस्था में रहे और जो आज उच्चतर सदाचार का पालन कर रहे हैं, कथन का प्रभाव अगर राजकोट-निवासियों पर नहीं होता तो, पटेल साहब के कथनानुसार, वास्तव में ही यह खेद की बात है। नारायणदास भाई कहते थे—'आप आरम्भ-समारम्भ का विचार करके खादी और मील के वस्त्रों का अन्तर बतलाते हैं, उसे सुनकर सब लोग वाह-वाह करने लगते हैं; पर उसका क्रियात्मक प्रभाव कुछ नजर नहीं आता। खादी की अच्छाई स्वीकार कर लेने मात्र से क्या लाभ हो सकता है?' सचमुच कोरी वाहवाही से क्या लाभ हो सकता है? लोगों ने अपने बचाव के लिए 'वाह-वाह' शब्द गढ़ लिया है। खादी और मील के कपड़ों का अन्तर जानकर खादी की प्रशंसा

के पुल बाँध देने और वाह-वाह कह देने से गरीबों का क्या लाभ हो सकता है ? जिसके त्याग से पैसे की बचत होती है और गरीबों का पालन होता है, साथ ही अहिंसा का भी पालन होता है, उस मील के कपड़े को अगर तुम छोड़ नहीं सकते और एक भी शरीर के ऊपर वह कपड़ा रहता है तो, सच्ची गांधी-जयन्ती नहीं मनाई जा सकती, वरन् उसकी अवगणना होती है। एक आदमी बोझ का मारा हैरान—परेशान हो रहा है। उसे देखकर तुम वाह-वाह, धन्य-धन्य चिल्लाते हो, पर उसका बोझ हल्का करने में जरा भी सहायता नहीं पहुँचाते। यह कैसी प्रशंसा है! यह तो एक प्रकार की विडम्बना है! राजकोट के निवासियों पर अगर गांधीजी के जीवन का प्रभाव पड़ा हो और गांधीजी की बदौलत उन्होंने राजकोट को पावन माना हो, तो उनके द्वारा गांधीजी के महान् आदर्श की क्या इस प्रकार अवगणना होनी चाहिये ?

मासिक पत्र 'कल्याण' में एक चित्र आया है। चित्र देखना किसे नहीं सुहाता ? पर चित्र क्या चीज़ है ? वह किसी कुशल कारीगर के कौशल का प्रतिबिम्ब है। उसने अपनी कल्पना से चित्र अंकित किया है। वास्तव में चित्रकार ने न सूरदास को देखा है, न श्री कृष्ण को देखा है। उसने तो केवल कल्पना की है। इसी प्रकार कोई कलाकार एक ऐसा चित्र बनावे, जिसमें एक ओर गांधीजी अंकित हों और दूसरी ओर उनका कार्य चित्रित हो। एक ओर गांधीजी का वृद्ध और दुर्बल शरीर हो और दूसरी ओर उनका महान् कार्य हो। इन दोनों में से तुम किसे पसंद करोगे ?

'कल्याण' मासिक में सूरदास और कृष्ण का चित्र है। तुम उस चित्र को देखकर मुग्ध होओगे या जिसका चित्र है उसके कार्य का स्मरण करके मुग्ध बनोगे ? कदाचित् तुमने किसी व्यक्ति का शरीर या उसका चित्र देखा हो, और उस पर मुग्ध होकर उसके कार्य की प्रशंसा करने लगो, मगर उसके कार्य को अपनाओ नहीं, तो क्या तुम उस पुरुष की अवगणना नहीं करते ?

गांधीजी के लिए वाहवाह कर देने से भारत का कल्याण नहीं हो सकता। देश-हित के कार्यों का जितना भार वे उठाते हैं, उसमें हिस्सा बँटाने से ही भारत का हित हो सकता है। सुना है, कल पटेल साहब ने कहा था—'वर्षा ऋतु में अनगिनते मेंडक उत्पन्न होकर टर्र-टर्र करने लगते हैं, परन्तु जब ताप पड़ने लगता है, तब वे अदृश्य हो जाते हैं। इसी प्रकार जब आन्दोलन का दौरदौरा होता है, तो बहुतेरे मनुष्य अपने को देश-भक्त कहने लगते हैं परन्तु जब रचनात्मक कार्य करने का समय आता है, तब वे देश-भक्त न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं! उस समय वे नजर नहीं आते।'

इस प्रकार गांधीजी की वाहवाह करने के लिये तो बहुत लोग तैयार हो जाते हैं, परन्तु उनके उपदेश के अनुसार काम करने के लिए बहुत थोड़े लोग तैयार होते हैं। राजकोट-निवासियों से मैं कहता हूँ कि तुम अगर कोरी वाह-वाह करने में रह गये, तो तुम्हारे लिए और साथ ही मेरे लिए भी शर्म की बात होगी, क्योंकि मैं भी भारत में ही जन्मा हूँ। मैं नहीं जानता था कि कभी मुझे राजकोट आना होगा और पटेल साहब से मेरी मुला-

कात होगी। पर कौन जाने प्रकृति की लीला को ? इस समय मैं भी राजकोट में हूँ और इसलिए मेरे लिए भी यह लज्जाजनक बात होगी। अगर तुम चर्बी-लगे मील के वस्त्रों का त्याग करो तो तुम्हारी क्या हानि होगी ? ऐसा करने में सरकारी रुकावट है ? सरकार की ओर से ऐसी कोई रोक-टोक नहीं है, फिर भी अगर कोई सरकार के डर से चर्बी के कपड़े नहीं छोड़ता तो वह देवादिक का उपसर्ग उपस्थित होने पर किस प्रकार निर्भय और निश्चल बना रह सकेगा। राजा—अगर सच्चा राजा है तो चर्बी के कपड़े त्याग कर खादी पहनने के कारण तुससे कदापि अप्रसन्न न होगा। कदाचित् कोई राजा नाराज़ हो भी जाय, तो अन्त में उसे ठिकाने पर आना ही पड़ेगा। तुम खादी पहनने से डरते क्यों हो ? अगर तमाम स्त्रियाँ और पुरुष खादी पहनने का निश्चय कर लें तो क्या हानि होने की संभावना है ? ऐसा करने से तुम्हारा कौन-सा कार्य रुक जाता है ? अगर यह बात तुम्हारी समझ में आगई हो, तो मिल के वस्त्रों का त्याग करने की प्रतिज्ञा कर सकते हो। पर त्याग केवल देखादेखी नहीं होना चाहिए। तत्व को भलीभाँति समझ-बूझकर त्याग करना चाहिए। तुम जिस देश में जन्मे हो, जहाँ के अन्न, जल और वायु से तुम्हारे शरीर का पोषण हुआ है, उसी देश में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं का तुम्हें त्याग करना चाहिए। इस वस्तु से तुम्हारा जीवन-निर्वाह सरलता से हो सकेगा और साथ ही तुम महा-आरंभ से भी बच जाओगे। अल्पारंभ से ही तुम्हारा कार्य चल जायगा।

यह सभा आस्तिकों की है। यहाँ बैठे हुए सभी लोग यह

स्वीकार करते हैं कि—'हम परलोक से आये हैं और परलोक में जाने वाले हैं।' ऐसा मानते तो हो, पर साथ ही यह भी विचार करो कि—तुम्हारा कर्त्तव्य क्या है ? और इस संसार में आकर तुमने क्या किया है ? जब तुम परलोक से आगमन और परलोक-गमन मानते हो, तो तुम्हें जितना हो सके उतना महा-आरंभ से बचना चाहिए। इसी में तुम्हारा कल्याण है।

सरदार वल्लभ भाई पटेल का भाषण

आप सब के दर्शन करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। साधु-संतों के सामने खड़े होकर उपदेश देने की मुझे आदत नहीं है, और अधिकार भी नहीं है। मैं संसार में रहने वाला हूँ और संसार-पाप से भरा हुआ है। भारत में एक महापुरुष जन्मा है। मैं उसका सिपाही हूँ और उसका संदेश पहुँचाने के लिए गाँव-गाँव फिरता हूँ। इस समय तो मैं तीर्थ-स्थान में आया हूँ। यह राजकोट शहर उसका निवास-स्थान है। मुझे नहीं मालूम था कि मुझे यहाँ आना होगा और संतों के मुख से उपदेश सुनने का सुअवसर मिलेगा। पर आपका उपदेश-श्रवण ऐसा नहीं होना चाहिए कि—'कथा सुनकर फूटे कान, तब भी न आया हिये में ज्ञान।' इस प्रकार का उपदेश आप प्रतिदिन सुनते हैं पर 'मुख में राम, बगल में छुरी' इस कहावत के अनुसार अगर बर्त्ताव नहीं है, तो इन तमाम बहनों के शरीर पर विदेशी वस्त्र क्यों दिखाई देते हैं? पापों को धोने के लिए गंगा-स्नान करना या केसरिया-

नाथजी की यात्रा कर आना, भारत की पद्धति है । इतना करके पापों का धुल जाना मान-बैठना भ्रमपूर्ण है। जो कर्म किये जायँगे उन्हें भोगना ही पड़ेगा। अतएव केवल उपदेश सुनकर ही संतोष न मानो; पर इस बात का भी विचार करो कि इस उपदेश का आपके ऊपर क्या प्रभाव पड़ा है ?

आप सब अहिंसा को मानने वाले और पालने वाले हैं। आपकी रग-रग में अहिंसा भरी है। पर आप अपंग बन गये हैं, और आप में अहिंसा पालने की शक्ति नहीं रही है। एक तपस्वी जन्मा है, जो बड़े से बड़ा जैन है। जिसने आत्मा को पहचाना, वही जैन है। मैंने उस तपस्वी सरीखा दूसरा जैन नहीं देखा है। अहिंसा-पालन और दूसरों की रक्षा करना जैनों का कर्त्तव्य है। वह तपस्वी ऐसा करता है और न केवल भारत में ही, वरन् विदेशों में भी उसने अहिंसा का प्रचार किया है। कूप-मण्डूक, कूप के सिवाय और कुछ नहीं जानता; परन्तु समुद्र में रहने वाला जानता है कि मगरमच्छ, जहाज, आगबोट आदि कैसे होते हैं ? इसी प्रकार दूसरों को तो पता नहीं है, पर वर्त्तमान कालीन इतिहास जानने वाले लोग जानते हैं कि यूरोप में कैसी यादवस्थली चल रही है ? कुशल समझे जाने वाले लोगों ने ऐसे उपाय खोज निकाले हैं जिनसे अधिक से अधिक मनुष्यों की हिंसा हो। परन्तु भारतवर्ष के सच्चे जैन तपस्वी ने अहिंसा की रक्षा के लिये, अधिक से अधिक मनुष्यों की रक्षा के उपाय खोज निकाले हैं। नर-संहार का उपाय ढूँढ़ने वालों ने बम, गोला आदि का आविष्कार किया; परन्तु इस महापुरुष ने चर्खे का ईजाद

किया है, जिससे ग़रीब और विधवाएँ भी प्रतिदिन चार पैसे कमा सकती हैं, और राबड़ी बनाकर, उसे पीकर जीवन-निर्वाह कर सकती हैं। आप लोग अहिंसा के पालक हैं, इसलिए गाय, कुत्ता और पक्षी के लिए खुराक का थोड़ा भाग निकाल देते हैं और मान लेते हैं कि अहिंसा का पालन हो गया। परन्तु जहाँ करोड़ों मनुष्य भूखे मरते हैं, वहाँ गाय आदि के नाम से थोड़ा-बहुत निकाल देने मात्र से अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है? ऐसी दशा में आप अहिंसा के पालक कैसे रह सकते हैं? सच्चे अहिंसक मनुष्यों ने चर्खे को जीवित करके ऐसा प्रबन्ध किया है जिससे भूखों मरने वाले बहुत-से लोगों को रोटी मिल सके।

जिस देश में यादव-स्थली चल रही है, उस देश के लोग भारत के इस तपस्वी के लिए कहते हैं—वह कैसा शूरवीर है कि बिना तलवार-बंदूक के ही सल्तनत को कँपा रहा है। वह संसार से प्रेम करने की शिक्षा देता है और कहता है कि ऐसा किये बिना कल्याण नहीं। वे लोग यह भी मानते हैं कि नर-संहार को रोकने के लिए भारत में एक ही महापुरुष है और जब तक हम उसके बताये मार्ग पर नहीं चलेंगे, तब तक हमारा कल्याण नहीं हो सकता। अहिंसा का पालन करने के लिए शास्त्र हमें अनेक आदर्श बतलाता है, परन्तु वे प्रत्यक्ष नहीं हैं। अहिंसा का ऐसा प्रत्यक्ष आदर्श जो तुम्हारे सामने रखता है, उसकी बात नहीं मानोगे, तो किस प्रकार तुम्हारा कल्याण होगा?—यह बात तुम समझ नहीं सके हो। सिर्फ एक या दो आदमियों ने खादी पहनने की प्रतिज्ञा की, तो स्पष्ट है कि तुम्हें संतों के प्रति

और धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं है या तुममें अशक्ति है। तुम्हारे भीतर अगर इतनी अशक्ति है तो तुम धर्म को—जो सिर का बलिदान देकर पाला जाता है—कैसे पाल सकोगे ? तुम जो उपदेश सुनते हो, उसे पालने का अभ्यास करोगे, तो ही उपदेश सुनना सार्थक होगा। इस प्रकार साधु-संतों का आगमन और उपदेश देना तभी सफल हो सकता है जब तुम उस उपदेश का पालन करो। इसलिए उपदेश के पालन का अभ्यास करो।

भारत की रक्षा सदा स्त्रियों ने ही की है। अगर स्त्रियाँ अब भारत की रक्षा नही करेंगी, तो कौन करेगा ? पर आज स्त्रियाँ ऐसे मोह में फँस गई हैं कि अपने कर्त्तव्य को भी नहीं देखतीं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर अधिक उत्तरदायित्व है, अतएव स्त्रियों को विचारना चाहिए कि—'अगर हम खादी पहनेंगे तो खादी में खर्चा हुआ पैसा ग़रीबों को मिलेगा और उससे उनका पेट पलेगा।' खादी न पहनने से थोड़े-से व्यक्ति करोड़पति हो जाएँगे, करोड़पति होकर मोटर खरीदेंगे और ऐसा कार्य करेंगे जिनसे महान् पाप होते हैं। हजारों मेढ़ों में दो-चार सिंहों के बसने के समान सामान्य वर्ग की प्रजा में दो-चार करोड़पतियों को बनना होगा। हजारों मेढ़ों में रहने वाले दो-चार सिंहों की क्या शोभा है ? बहादुरी तो तब है जब हजारों वीरों के बीच सिंह का वास हो। मेढ़ों के समूह में रहना बहादुरी नहीं है। साथ ही मेढ़ों को भी उससे कुछ लाभ नहीं है। यही नहीं, बल्कि हजारों मेढ़ों के बीच रहने वाला सिंह प्रतिदिन दो-चार मेढ़ों का शिकार करेगा ! इस प्रकार करोड़ों

भुखमरों में दो-चार करोड़पतियों के होने से कुछ भी लाभ नहीं है।

जैन-धर्म किसी एक जाति का नहीं है। सभी मनुष्यों को जैन होने का अधिकार है। उसमें स्पृश्य-अस्पृश्य का भेद नहीं है। जो आत्मा को पहचानता है, वही जैन है। इसी कारण इस धर्म के निकट राजा-रंक, छोटे-मोटे सभी समान हैं। इसमें जाति-पाँति का भी कोई बखेड़ा नहीं है। पर आज तो जैन-मंदिरों या जैन-उपाश्रयों में अछूत को आने का अधिकार ही नहीं है! हिन्दू-धर्म की इस कुरूढ़ि को जैन-धर्म ने भी स्वीकार कर लिया है। आपको यह कुरूढ़ि निकाल फैंकना चाहिए। किसी भी मनुष्य को अस्पृश्य कहना, उसका तिरस्कार करना है। इस तिरस्कार से उन्हें, तलवार के झटके से भी अधिक दुःख होता है। यह तिरस्कार शरीर का नहीं, शरीर में रहे हुए आत्मा का है। शरीर में से जब आत्मा चला जाता है, तो सभी अस्पृश्य बन जाते हैं। तब आत्मा होते हुए किसी का अपमान करना ईश्वरीय अंश का अपमान करना है।

हम सब लोग संसार में रहते हैं। इस समय तो मैं ऐसे तीर्थ-स्थान में आया हुआ हूँ, जहाँ वह महान् जैन उत्पन्न हुआ है, जो जैन न होते हुए भी मन-वचन-काय से जैन-धर्म का पालन कर रहा है। इस महापुरुष के जीवन का अनुकरण करके आपको कुछ न कुछ प्रतिज्ञा करनी चाहिए। ऐसा करने से आपका साधु-दर्शन और उपदेश-श्रवण सफल होगा। इतना कहने के पश्चात् मैं इस भावना के साथ अपना स्थान ग्रहण करता हूँ कि—'आपको और मुझे ऐसी दृढ़ता प्राप्त हो।'

गांधी-जयन्ती
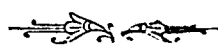
प्रार्थना

श्री सुबुधि जिनेश्वर वन्दिये रे ।
त्यागी प्रभुता राजनी हो, लीधो संयम भार ।
निज आतम अनुभव थी हो, प्रभु पाम्या पद अविकार ॥श्री०॥

भगवान् सुबुद्धिनाथ की यह प्रार्थना है। इस प्रार्थना में यह बताया गया है कि सुबुद्धिनाथ, भगवान् सुबुद्धिनाथ किस प्रकार बने! भगवान् सुबुद्धिनाथ को परमात्मपद पाने में जो विघ्न या अंतराय बाधक हो रहे थे, उन पर उन्होंने विजय-लाभ किया था। इस विजय के महान् व्यापार में भगवान् सुबुद्धिनाथ का आत्म-धर्म प्रगट हुआ था। प्रार्थना में कही हुई बात को सुनकर यह विचार उद्भूत होता है कि—हे प्रभो! आपके और मेरे बीच जरा-सा अन्तर है—थोड़ी-सी दूरी है। आपने अपने विघ्नों को हटा दिया है और मैं उन्हें अबतक हटा नहीं सका हूँ। बस यही मुझमें और आप में फासला है—यही पर्दा है। इसी पर्दे के कारण मैं आपसे दूर पड़ा हूँ।

आप यह तो जान चुके कि हम में और भगवान् में केवल विघ्नों का पर्दा है और इतना-सा ही अंतर है। मगर प्रश्न तो यह है कि यह जान लेने के पश्चात् हमारा कर्त्तव्य क्या है? इसका सीधा-सादा समाधान है और वह यह कि उस पर्दे को हटा देना चाहिए। जब तक विघ्न-रूप पर्दे को हटाया नहीं जायगा, तब तक परमात्मा से भेंट नहीं हो सकती। अगर आप इस पर्दे को नहीं हटाना चाहते, तो यही कहा जायगा कि आप परमात्मा से भेंट नहीं करना चाहते।

सारा संसार एक भ्रम में पड़ा हुआ है। परमात्मपद की प्राप्ति में जो पदार्थ विघ्न-रूप हैं, उन्हीं को वह कल्याणकारी मान रहा है। आत्मा स्वयं परमात्मा बनना चाहता है, पर ठीक विपरीत दिशा में प्रयाण करता है। फल यह होता है कि समीपता के बदले दूरी बढ़ती जाती है। अतएव इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि परमात्मा की प्राप्ति के उद्देश्य से हमारा प्रत्येक कदम अनुकूल ही पड़े—प्रतिकूल नहीं। जिन वस्तुओं का संसर्ग इस ध्येय में बाधक हो, उनका परित्याग करना चाहिए। इस प्रकार करने से परमात्मा के साथ भेंट हो सकती है।

भगवान् सुबुद्धिनाथ का 'सुबुद्धिनाथ'-नाम केवली-पद प्राप्त करने से पहले का है। केवल-पद पाने के बाद तो उनके अनन्त नाम हो गये हैं। भगवान् सद्बुद्धि के स्वामी थे और हम लोग सुबुद्धि की परवाह न कर कुमति के फंदे में फँसे हैं। हम लोग बुद्धि से तर्क-वितर्क करते हैं और तर्क-वितर्क द्वारा भगवत्प्राप्ति के मार्ग में कांटे बिखेर लेते हैं। जिस समय हम भगवान् सुबुद्धिनाथ के पावन चरणों में सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ बुद्धि को समर्पित कर देंगे,

तभी श्रद्धा के साहचर्य से बुद्धि सन्मार्गगामिनी बनेगी और वह दुर्बुद्धि मिट कर सद्बुद्धि हो जायगी। अतएव भव्य जीवो! बुद्धि का भरोसा छोड़कर श्रद्धा का शरण ग्रहण करो। श्रद्धा का शरण ग्रहण करने से तुम बुद्धि के दास न रह कर सद्बुद्धि के नाथ बन सकोगे।

कोई यह आशंका कर सकता है कि संसार का प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि हमारी दुर्बुद्धि का विनाश हो और सद्बुद्धि का प्रकाश हो। पर ऐसा होता क्यों नहीं है?—इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जैसे आकाश से बरसने वाला पानी समान होता है लेकिन भिन्न-भिन्न पात्र उसे विभिन्न रूपों में ग्रहण करते हैं, इसी प्रकार भगवान् सुबुद्धिनाथ अपन-सब में मूलतः समान बुद्धि देखते हैं, फिर भी विभिन्न व्यक्तियों के औपाधिक संबंध के कारण उसमें विचित्रता हो रही है। इसी वैचित्र्य को विनष्ट करने के लिए भगवान् सुबुद्धिनाथ के शरण में जाने की आवश्यकता है। बुद्धि में विचित्रता किस प्रकार आ रही है, इसके लिए एक प्रमाण लीजिए :—

'परस्परविवदमानानां धर्मशास्त्राणामहिंसा परमो धर्म इत्यत्र एकवाक्यता।'

अर्थात् धर्म-शास्त्रों में अन्यान्य बातों संबंधी मतभेद भले ही हों, पर अहिंसा को परम धर्म मानने में किसी का मतभेद नहीं है। अहिंसा धर्म सभी को मान्य है। ऐसा होते हुए भी धर्म के नाम पर कितनी खून-खराबी हुई है? जहाँ धर्म के नाम पर इतनी खून-खराबी हो, वहाँ यही समझना चाहिए कि धर्म के नाम पर

ढोंग प्रचलित है। सच्चा धर्म अहिंसा और सत्य आदि है। अहिंसा के कारण कहीं खून-खच्चर नहीं होता। इसके पालन में भी कहीं किसी का मतभेद नहीं है। सच तो यह है कि लोगों के हृदय विकार से भरे हुए हैं और जब उन्हें कोई दूसरा आधार नहीं मिलता, तब वे धर्म के नाम पर सिर-फुटौवल मचाने लगते हैं। वास्तव में कोई भी धर्म परस्पर लड़ने-झगड़ने या दूसरे को दुःख देने की आज्ञा नहीं देता। ऐसा होते हुए भी दूसरों को दुःख देना धर्म-संबंधी अज्ञानता को प्रगट करता है। इस प्रकार बुद्धि में विचित्रता आ रही है। इस विचित्रता को मिटाने के लिए परमात्मा की शरण में जाओ। भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण में जाने पर बुद्धि की यह विचित्रता नष्ट हो जायगी।

मैं अहिंसा धर्म का प्रचारक समझा जाता हूँ, पर मैं अपनी दृष्टि में तो अहिंसा धर्म का क्षुद्र सेवक हूँ। आप चाहे जो समझें पर मैं अहिंसा धर्म के प्रचार की योग्यता अपने में अभी नहीं पाता। दूसरे मेरी निर्बलता को न जानें, मेरे विचारों से परिचित न हों, लेकिन आत्म-निरीक्षण द्वारा मैं यह जानता हूँ कि मुझ में अनेक निर्बलताएँ हैं और मैं विकारों पर सम्पूर्ण विजय नहीं प्राप्त कर सका हूँ।

आप कह सकते हैं—अगर मुझ में विकारों का अस्तित्व है, तो मैं अहिंसा धर्म का उपदेश क्यों करता हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ऐसा करने में भी मैं अपने आत्मा का कल्याण देखता हूँ। इतने आदमियों के सामने मैं जो कुछ कहता हूँ, उसका स्वयं पालन करने की प्रेरणा मेरे अन्तःकरण में स्वतः

उत्पन्न हो जाती है। मेरे उपदेश का दूसरे अनुसरण करें या न करें, पर स्वयं मुझे अनुसरण करने की दृढ़ता प्राप्त होती है। दूसरे के समक्ष मैं अहिंसा आदि के संबंध में जो आदर्श वाचनिक रूप में व्यक्त करता हूँ, यदि क्रिया-रूप में मैं स्वयं उनका अनुसरण न करूँ तो यह विपरीत मार्ग पर चलना होगा। अतएव मैं भगवान् की शरण में जाकर भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि मेरी बुद्धि के सम्पूर्ण विकार नष्ट हों, और दूसरों के सामने मैं जैसा बोलता हूँ उसी के अनुसार अपना व्यवहार बना सकूं।

जब कोई व्यक्ति अपनी बुद्धि की निरन्तर चौकसी करता रहता है—उसमें विकारों का लेशमात्र भी प्रवेश नहीं होने देता वरन् भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण ग्रहण करके अपनी बुद्धि को निर्मल बनाये रखता है, तभी वह कल्याण का भाजन बनता है। ऐसा करने में कितने ही संकट क्यों न आ पड़ें, अपने पथ से विचलित नहीं होना चाहिए। प्राचीन काल के अनेक उदाहरण ऐसे मौजूद हैं जिनसे पता चलता है कि प्राचीन काल के धर्मात्माओं ने मारणान्तिक कष्ट उपस्थित होने पर भी अपनी बुद्धि में विकारों का प्रवेश नहीं होने दिया था। उन उदाहरणों को सुन कर यह संदेह हो सकता है कि यह कल्पनामात्र है या घटित घटना है? मगर जब वर्तमान में भी किसी को ऐसा करते देखा जाता है तो प्राचीन कथानकों की प्रामाणिकता मुक्तकंठ से स्वीकार करनी पड़ती है। हमें यह विश्वास हो जाता है कि पूर्ववर्त्ती पुरुषों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है वह सर्वांश में सत्य है। उदाहरणार्थ—अहिंसा, क्षमा आदि से सम्बन्ध में जो अतीत

वृत्तान्त उपस्थित किये जाते हैं, उन्हें सत्य मानने के लिए आ
गांधीजी प्रमाण रूप हो जाते हैं।

गांधीजी का जन्म पोरवंदर में हुआ था। मैंने पोरवंदर देख
है और वहाँ के महाराज मेरा उपदेश सुनने भी आये हैं। पोर
वंदर-महाराज के परिचय में आने से यह स्पष्ट मालूम होत
है कि उन पर गांधीजी के विचारों का प्रभाव पड़ा है। वे गांधीज
के विचारों के अनुसार सुधार करने को उत्सुक रहते हैं। देश
का हित करने वाले विचारों का प्रचार करने वालों को वहाँ अव
सर दिया जाता है। जब मैं पोरवंदर में था, तभी वहाँ डाक्टर
पट्टाभी सीतारामैया भी आये थे। वह मेरे व्याख्यान में आये
और उन्होंने अपने कुछ राष्ट्रीय विचार भी प्रगट किये। उन्हें
दूसरी रियासतों में, सभा-में अपने विचार प्रगट करने में किसी
प्रकार की कठिनाई हुई होगी; किन्तु पोरवंदर में कोई कठिनाई
नहीं हुई। वे पोरवंदर में अंग्रेजों और देशी नरेशों की राजनीति
के विरुद्ध खूब खुलकर बोले, फिर भी राज्य की ओर से किसी
प्रकार की रोक-टोक नहीं की गई। इस प्रकार गांधीजी के जन्म-
स्थान में उनके विचारों का प्रभाव देखकर प्रसन्नता होती है।
सारे काठियावाड़ के लिए तो कह नहीं सकता, पर जहाँ तक पोर-
बन्दर का संवन्ध है, यह कहा जा सकता है कि गांधीजी के
विचारों ने वहाँ अच्छा स्थान वना लिया है।

आज इन्हीं गांधीजी की जन्म-तिथि है। हम साधु लोग तो
किसी की जन्म-तिथि नहीं मनाते; किन्तु गांधीजी ने अहिंसा का जो
प्रभाव प्रकट किया है उसके सम्वन्ध में मुझे कहना होगा। पंजाब-

केसरी लाला लाजपतराय जैन-परिवार में जन्मे थे। उनके दादा ने साधु-मार्गी जैन-समाज में दीक्षा ली थी। लेकिन लालाजी का दृष्टिकोण बदल गया। उन्हें जैन धर्म की वास्तविकता समझाने वाला कोई योग्य विद्वान नहीं मिला। वे जैन धर्म के अनुयायी न रह कर आर्यसमाजी बन गये। पर आर्यसमाज में भी उन्हें शान्ति नहीं मिली। वे कहने लगे—तलवार का प्रयोग किये बिना देश का कल्याण नहीं हो सकता। जैनों और बौद्धों की अहिंसा ने देश को कायर बना दिया है। जब तक इस कायरता का अन्त नहीं हो जाता तब तक भारत की भलाई नहीं हो सकती।

लाला लाजपतराय इस प्रकार अहिंसा के विरोधी बन गये। गांधीजी जब राष्ट्रीय रंगमंच पर आये और अहिंसा के पक्ष में उन्होंने अपने विचार प्रकट किये, तो लालाजी ने उन्हें लिखा—'देश पहले से ही कायर है। तिस पर आप उसे अहिंसा का उपदेश देकर गजब ढा रहे हैं! सौभाग्य से अभी-अभी देश में कुछ जागृति आई है सो आप अहिंसा का प्रचार कर उसे दबा देना चाहते हैं।'

गांधीजी ने लालाजी को यथेष्ट उत्तर दिया। कहा जाता है, बीस वर्ष तक गांधी-लाला-पत्र-व्यवहार होता रहा। अन्त में गांधीजी के विचारों से लालाजी संतुष्ट और प्रभावित हुए। उन्होंने बंबई में गांधीजी और डाक्टर एनीबीसेन्ट आदि के सामने हृदय खोल कर कहा कि इतने लंबे समय के पत्र-व्यवहार के पश्चात् मैं स्वीकार करता हूँ कि सत्य और अहिंसा की शक्ति महान् है, अजेय है और मैं उस शक्ति के सामने अपना मस्तक झुकाता हूँ।

लाला लाजपतराय बहुत विचारशील पुरुष थे। किसी जमाने में भारत के लाल, बाल और पाल की त्रिपुटी प्रसिद्ध थी। ऐसे विचारशील व्यक्ति को हिंसा से विमुख कर अहिंसा का भक्त बना लेना गांधीजी का काम था। वास्तव में अहिंसा का परिणाम तत्काल अनुभव नहीं किया जा सकता और हिंसा का परिणाम तत्काल ही देखा जाता है। इस कारण राजनीति में हिंसा का ही बोल-बाला है। मगर गांधीजी ने अहिंसा की परिधि बढ़ाकर उसे राजनीति में भी स्थान दिया है और एक प्रकार से एक नये युग की सृष्टि की है। यही गांधीजी की महत्ता और महापुरुषता है।

बंगाल के श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर कवि-सम्राट कहलाते हैं। संसार-प्रसिद्ध नोबेल पुरस्कार उन्हें गीताञ्जलि काव्य पर मिला है। उन्होंने भगवान् महावीर के विषय में जो उद्गार प्रकट किये हैं, उनके संबंध में यहाँ कुछ नहीं कहना है। यहाँ तो मैं एक और ही बात कहना चाहता हूँ। रवीन्द्रनाथ और गांधीजी में कुछ विचार-विभिन्नता है। फिर भी वे गांधीजी के अहिंसा के गुण को मस्तक झुकाते हैं। इससे आपको यह शिक्षा लेनी चाहिए कि आप में अगर किसी विषय को लेकर मतभेद हो जाय तो भी अहिंसा के संबंध में कोई मतभेद नहीं होना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ एक बार अमेरिका गये। अमेरिका-वासियों ने उनसे कहा—भारत के गांधीजी की हम बहुत प्रशंसा सुनते हैं। आपके साथ उनका सन्निकट परिचय होगा। कृपया गांधीजी के संबंध में आप अपने विचार प्रकट कीजिए। रवीन्द्रनाथ ने कहा—गांधीजी को मैंने देखा क्यों नहीं है? मेरा उनके साथ घनिष्ट परिचय भी

है। पर कठिनाई यह है कि जिस रूप में मैंने गांधीजी को देखा है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। गांधीजी की महत्ता उनके शरीर के कारण नहीं है। शारीरिक दृष्टि से वे बहुत ह्रस्व हैं, फिर भी वे महान् हैं। भूतवादियों के मत से सारी करामात भूतों की है। इस दृष्टि से जिसका भारी-भरकम शरीर हो वही महान् होना चाहिए और जिसका शरीर दुर्बल हो वह तुच्छ होना चाहिए। मगर गांधीजी इस भूतवाद के सशरीर साक्षात् खंडन हैं। शरीर से दुबले-पतले होने पर भी उनमें तीन बातें ऐसी हैं, जिनके कारण उनकी महत्ता है। पहली बात उनमें निर्भयता है। मैं कविसम्राट' कहलाता हूँ। पर कोई छुरा लेकर मुझे मारने आवे तो अपने बचाव के लिए मैं प्रयत्न करूँगा और भाग जाऊँगा। मेरा हृदय भय से काँप उठेगा। मगर गांधीजी को मारने के लिए अगर कोई छुरा लेकर जायगा तो उसे देखकर वे लेश मात्र भी भयभीत न होंगे। यही नहीं, वरन् हँसेंगे, मुस्कराएँगे और पहले से भी अधिक प्रसन्न होंगे। उनकी दूसरी महत्ता है— सत्य के प्रति दृढ़ता। अगर सम्पूर्ण अमेरिका का विपुल वैभव उनके चरणों पर चढ़ा दिया जाय और बदले में सत्य का परित्याग कर असत्य आचरण करने के लिए कहा जाय तो वे उस वैभव को लात मार देंगे। वे सत्य का त्याग नहीं करेंगे।

गांधीजी अमेरिका की अतुल धनराशि को सत्य के लिए ठुकरा सकते हैं, पर आप लोगों में कोई ऐसा तो नहीं है जो आठ आने के लिए साठ बार असत्य का आचरण कर सकता हो? अगर कोई ऐसा है तो उसे अपने इस पतन के लिए पश्चात्ताप नहीं होना चाहिए? पश्चात्ताप की ज्वाला में उसे अपने पापों को

भस्म करके भविष्य को निष्कलंक बनाना चाहिए। भीलों के विषय में कहा जाता है कि शपथ दिलाने पर वे मरने से बचने के लिए भी झूंठ नहीं बोलते। फिर आप कुलीन और धर्मात्मा कहला कर भी अगर तुच्छ बात के लिए असत्य का आचरण करें, तो कितना अनुचित है ? सत्य के प्रति गांधीजी की दृढ़ता से यह जाना जा सकता है कि जब आज भी इस प्रकार का सत्यनिष्ठ व्यक्ति हो सकता है तो अर्हन्तों के समय में पूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा हो तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? कामदेव श्रावक को गजब का भय दिखाया गया पर उसने सत्य का परित्याग नहीं किया। सीता अनेक प्रलोभनों के आगे भी सत्य का ही आराधन करती रही ! इन सब प्राचीन आख्यानों को गांधीजी की सत्यनिष्ठा देखते हुए कपोल-कल्पना या मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? गांधीजी की सत्यनिष्ठा को देखते हुए सहज ही यह विचार आता है कि इस गये-गुजरे जमाने में भी अगर सत्य के प्रति ऐसी दृढ़ता दिखाने वाले पुरुष मौजूद हैं तो प्राचीन काल में ऐसे सत्य-निष्ठ पुरुष क्यों न रहे होंगे ?

कविसम्राट ने आगे कहा—गांधीजी में प्रामाणिकता की भी प्रचुरता है। उनके जीवन-व्यवहार में कहीं अप्रामाणिकता का प्रवेश नहीं देखा जाता। आप चाहे जितनी सम्पत्ति उन्हें दीजिए। जिस कार्य के लिए आप देंगे उसी में वे उसे व्यय करेंगे। एक पाई भी वे उसमें से अपने लिए व्यय न होने देंगे।

एक ओर इस समय भी गांधीजी इस प्रकार की प्रामाणिकता रखते हैं। दूसरी ओर आजकल अप्रामाणिकता की पराकाष्ठा देखी जाती है। कई लोग अपने यहाँ जमा धर्मादा खाते की रकम

में से थोड़ा-बहुत देकर नाम कमाते हैं और कुछ तो धर्मादे की सारी रकम ही हड़प जाते हैं। ऐसे लोगों को गांधीजी की प्रामाणिकता से शिक्षा लेनी चाहिए।

गांधीजी की इन विशेषताओं को सुनकर अमेरिका के बड़े-बड़े पादरियों तक ने उन्हें संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष स्वीकार किया। गांधीजी में उल्लिखित विशेषताओं के अतिरिक्त और भी अनेक असाधारण गुण विद्यमान हैं। उन गुणों के संबंध में वही व्यक्ति ठीक-ठीक बतला सकता है जो गांधीजी के निकट परिचय में रहता है। फिर भी उनके सार्वजनिक जीवन से फलित होने वाले कुछ गुणों का परिचय मिलता है। उन अनुकरणीय गुणों में से एक है--सेवा-धर्म। गांधीजी के सेवा-धर्म के विषय में श्रीयुत् श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है। शास्त्रीजी राजनीति में नरम दली माने जाते हैं। गांधीजी से उनका राजनैतिक मतभेद भी रहता है। शास्त्रीजी ने सन् १९१४ में यूरोप में देखा कि गांधीजी भयंकर कोढ़ी या इसी प्रकार के अन्य रोगियों के शरीर पर भी अपने हाथों से पट्टी बाँधते हैं। सहानुभूति से उनका हृदय द्रवित हो रहा है। प्रेम की प्राञ्जल ज्योति उनकी आँखों में चमक रही है। यह सब देखकर श्रीनिवासजी शास्त्री का हृदय गांधीजी के विषय में सहसा पलट गया। मन ही मन गांधीजी जैसे सच्चे मानव-सेवक की अवज्ञा करने के अपराध के लिए उन्होंने पश्चात्ताप किया।

गांधीजी की विशेषता को जान लेना मात्र ही आपके लिए पर्याप्त नहीं है। उनके जीवन की अपने जीवन के साथ तुलना भी कर देखो। गांधीजी अज्ञात-अपरिचित रोगियों की आत्मीय भाव से सेवा करते हैं, तब आप अपने घर के या सहधर्मी की भी सेवा

करते हैं या नहीं ? किसी दीन-दुखी को देखकर आप लापरवाही से यह तो नहीं सोचते या कहते कि—हम क्या करें, इसने जैसा किया है वैसा भोगेगा ! इसके कर्म-फल-भोग में हम हस्तक्षेप क्यों करें ? अगर आपके मुख से ऐसे शब्द निकलते हैं तो आप अपनी वाणी का दुरुपयोग ही नहीं करते बल्कि मानवता के प्रति घोर अपराध करते हैं। अगर हाथी के भव में मेघकुमार ने यही सोचा होता कि यह खरगोश अपने किये का फल भोग रहा है, तो क्या हाथी मेघकुमार का जीवन पा सकता था ? भगवान् क्या यह कहते कि—मेघकुमार ! तुम हाथी के भव में शशक पर अनुकम्पा करने के कारण मेघकुमार बने हो ? वास्तव में दुखी को देखकर जिसके दिल में दया का स्रोत बहने लगता है, उसके दुःख उसी स्रोत में वह जाते हैं। जिसका अन्तःकरण करुणा की कल्लोलमाला से संकुल है उसने अपना जीवन सार्थक बनाया है। सेवा, मानव-जीवन का बहुमूल्य लाभ है। सेवा की सीमा नहीं है। वहाँ स्व-पर का भेद नहीं है। अपनी संतान के समान ही प्रेमपूर्वक दूसरे की संतान की सेवा करना मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है। शास्त्र सेवा-भावना की शिक्षा देता है। शास्त्र की इस शिक्षा के होते हुए भी सेवा में आपको कठिनाई प्रतीत होती है। गांधीजी जैसी महिमा यदि आपको मिले तो आप बड़ी प्रसन्नता के साथ उसे अपना लेने को तत्पर हो जाएँगे, पर गांधीजी जैसी सेवा करने का कार्य किसी और को सौंप देने का प्रयत्न करेंगे ! गांधीजी की सेवा-भावना ने उनके विरोधियों को भी अपना प्रशंसक बना लिया है। आज उनके विरोधी भी मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा करते हैं।

जैन शास्त्र में क्षमा की बड़ी प्रशंसा की गई है। साधु के दस धर्मों में क्षमा को पहला स्थान दिया गया है। साथ ही क्षमा का असली रूप क्या है और उसकी सीमा क्या है, यह बताने के लिए गजसुकुमार मुनि का आदर्श दृष्टान्त भी शास्त्रों में लिखा है। गजसुकुमार की क्षमा चरम सीमा की क्षमा है। उसके विषय में कोई कह सकता है कि—हमें तो बिच्छू का दंश भी सह्य नहीं होता तो सिर पर पाल बाँधकर जलाई हुई अँगीठी की घोरतर वेदना गजसुकुमार मुनि कैसे सहन कर सके होंगे? इसका उत्तर यह है कि अपनी दुर्बलता को जगत् की दुर्बलता का माप-दण्ड नहीं बनाना चाहिए। जगत् में इस समय भी हमसे अधिक सहनशील क्षमावान् व्यक्ति देखे-सुने जाते हैं। इससे प्राचीन महापुरुषों की क्षमा और सहिष्णुता के प्रति संदेह नहीं रखा जा सकता। प्राचीन काल के महाप्राण महापुरुषों ने अगर हमें आश्चर्य में डाल देने वाली क्षमा का सेवन किया है तो वह अविश्वसनीय नहीं हो सकता।

गांधीजी की क्षमा के विषय में एक बात सुनी जाती है। दक्षिण अफ्रिका में गांधीजी ने सत्याग्रह संग्राम छेड़ा था। उस समय एक पठान को न मालूम क्यों यह संदेह हो गया कि उन्हों ने हमें तो सत्याग्रह में झोंक रक्खा है और आप स्वयं सरकार से मिल गये हैं। पठान इस संदेह के कारण गांधीजी पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उन्हें मार डालने तक के लिए संकल्प कर बैठा।

एक दिन पठान को गांधीजी मिल गये। पठान मौका देख ही रहा था, उसने उन्हें उठाकर गटर में पटक दिया। गांधीजी चोट खाकर बेहोश हो गये। उनके मित्रों ने पता लगाकर उन्हें अस्प-

ताल पहुँचाया। गांधीजी होश में आये। उनके मित्रों ने कहा— आपको उस दुष्ट पठान ने बहुत कष्ट पहुँचाया है। आपके ठीक होते ही उस पर मुकदमा चलाया जायगा। गांधीजी की महत्ता उस समय देखने योग्य थी। उन्होंने कहा—अपने भाई पर मुकदमा मैं नहीं चला सकता। उसे मुझ पर संदेह हुआ और इसी कारण उसने मेरे साथ यह व्यवहार किया है। ऐसे प्रसंग तो मेरी क्षमा की कसौटी हैं। मुझमें कितनी क्षमा है, यह अब मालूम हो सकेगा। गन्ना खेत में भी मीठा रहता है, घानी में पेला जाता है तब भी मीठा रहता है, भट्टी पर चढ़ाने पर भी मीठा रहता है। वह अपनी मिठास कभी नहीं त्यागता है। मैं क्या गन्ने से भी बदतर हूँ, जो अपनी प्रकृति का परित्याग कर अपने ही एक भाई पर दावा दायर करूँ ! चलो, उसके पास चलें और इस तरह कसौटी करने के कारण उसका आभार मानें।

गांधीजी उसके यहाँ गये। गांधीजी की बातें सुनकर उसका हृदय पलट गया। वह अपने कृत्य के लिए पश्चात्ताप करने लगा कि मैंने लोगों के कहने-सुनने से व्यर्थ ही एक सत्पुरुष को पीड़ा पहुँचाई। पठान ने अन्त में गांधीजी के पैरों पड़कर क्षमा-याचना की। गांधीजी ने अगर पठान पर मुकदमा दायर किया होता, तो वे उसे कारागार में भले ही भिजवा देते, पर उस पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते थे। उस अवस्था में दोनों को वह रस कैसे मिलता !

गांधीजी ने गटर में फैंक देने वाले पठान पर मुकदमा नहीं चलाया। फिर क्या आप अपने सगे भाई पर मुकदमा चलाएँगे ? नहीं, तो भाई पर मुकदमा चलाने का नियमानुसार त्याग क्यों नहीं कर लेते ? जिन हाकिमों के सामने भाई-भाई के मुकदमे

आते हैं वे इस प्रकार की घटना से और भी उपदेश ले सकते हैं। उन्हें मालूम हो सकता है कि संसार में स्वार्थ की कैसी भीषण आग धधक रही है ! भाई, भाई का अधिकार हड़पना चाहता है ! इस प्रकार की घटनाएँ वास्तव में प्रत्यक्ष उपदेश हैं !

गांधीजी की क्षमा-भावना पर विचार करने से यह भी प्रतीत होता है कि ऐसी उत्तम क्षमा धारण करने वाले पुरुष आज भी मौजूद हैं, तो भगवान् नेमिनाथ के समय गजसुकुमार जैसे क्षमाशील श्रमण हों, इसमें आश्चर्य क्या है ?

गांधीजी की दया के विषय में भी एक घटना सुनी जाती है। जगत् के दूसरे लोग जिसे दुतकारते हैं, सच्चा दयालु उसे अपनी दया का प्रथम पात्र समझता है। आज संसार में बहुतेरे लोग हैं जो मुँह से दया-दया चिल्लाते हैं पर दया के लिये करते कुछ भी नहीं हैं। मगर गांधीजी ने दया के लिये क्या किया है, यह ध्यान देने योग्य है। गांधीजी गन्तूर गये थे। वहाँ वेश्याओं की एक सभा थी। वेश्याओं ने गांधीजी से मिलने का विचार किया। गांधीजी ने कहा—वे मेरी बहिनें हैं, प्रसन्नता के साथ मुझसे मिल सकती हैं। आखिर वे गांधीजी से मिलीं। गांधीजी ने उनके वस्त्र देख कर कहा—बहिनों ! तुम इस प्रकार के गंदे वस्त्र न पहना करो। तब वेश्याओं ने कहा—आप इन वस्त्रों को गंदा कहते हैं, पर हमारे पास दूसरे वस्त्र ही नहीं हैं।

वेश्याओं का यह कथन सुन कर गांधीजी ने कहा—नीच धंधा करने पर भी अगर इन्हें पूरे और साफ़-सुथरे वस्त्र नसीब नहीं होते तो मेरे दूसरे गरीब भाइयों की क्या स्थिति होगी ? यह सोच

कर उन्होंने अपने सब कपड़े त्याग दिये। वे चादर और लंगोटी लगा कर रहने लगे।

दया का यह कैसा आदर्श उदाहरण है। आप तो दया की खातिर चर्बी के भी वस्त्र नहीं त्याग सकते! अगर आप सच्चे अहिंसा-धर्म का पालन करें तो आपका भी कल्याण हो और दूसरों का भी। चर्बी लगे हुये वस्त्र की अपेक्षा खादी में अधिक पैसे लगते जान पड़ेंगे, लेकिन यह देखना चाहिए कि खादी में खर्च हुआ प्रत्येक पैसा हमारे देश के गरीब भाइयों के पास पहुँचता है और मैनचेस्टर की मलमल में व्यय हुआ रुपया विदेश चला जाता है। अंग्रेज लोग अपने देश का कितना खयाल रखते हैं? कहते हैं, बंबई में एक अंग्रेज ने अपने नौकर से बूट की जोड़ी मँगवाई। नौकर बाजार गया। उसने देखा—देशी बूट और विलायती बूट बनावट और मजबूती में समान हैं। फिर भी देशी बूट कीमत में सस्ते और विलायती महँगे हैं। यह सोच कर वह देशी बूट ले आया। अंग्रेज ने कहा—अरे यह इंडियन बूट तू क्यों ले आया है? नौकर ने जब देशी बूट लाने का कारण उसे समझाया, तब वह अंग्रेज कहने लगा—विलायती बूट महँगा है तो भी मुझे वही खरीदना है। वह पैसा मेरे देश में रहेगा। अगर हम लोग इस प्रकार दूसरे देश को अपना पैसा देने लगेंगे, तो हम अपनी मातृभूमि के द्रोही हो जाएँगे।

इसी प्रकार खादी में अगर आपके कुछ अधिक पैसे लगेंगे तो भी वे सब पैसे गरीब स्वदेशवासियों के काम में आवेंगे और इससे देश का कल्याण होगा। इसके विपरीत चर्बी लगे हुए

मिल के वस्त्र खरीदने पर पैसे प्रायः विदेशी पूँजीपतियों की तिजोरियों में जाएँगे।

मालूम हुआ है कि मद्रास के श्री राजगोपालाचार्य ने खादी के प्रयोग का एक कारखाना खोला है। उस कारखाने के जरिये १५८ गाँवों के लोगों का दुर्भिक्ष के समय गुजारा चला। छोटे-छोटे कामों से भी गरीबों की कितनी सहायता की जा सकती है, इसका विचार करो और साथ ही खादी एवं चर्बी वाले मिल के वस्त्र के आरम्भ के विषय में तुलनात्मक विचार करो। सोचो कि किसमें अल्प-आरंभ है और किसमें महा-आरंभ है? यह विचारने से मालूम हो जायगा कि दोनों प्रकार के वस्त्रों में क्या और कितना अन्तर है? खादी पहनने वाले को आजकल कोई बुरा नहीं कहता। कदाचित् कोई बुरा कहने भी लगे, तब भी किसी के कहने-भर से कोई बुरा नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त परमात्मा के समीप तो आप अल्पारंभी ही समझे जाएँगे। अब तो खादी भी बढ़िया बनने लगी है। पहले इस देश में कैसा अच्छा कपड़ा बनता था। सुनते हैं, ढाका का मलमल सात सौ रुपये की कीमत तक का होता था। ढाका का मलमल पहनने के लिए यूरोप की ललनाएँ भी ललचाती थीं। इतिहास के अनुसार ढाके के वस्त्र-व्यवसाय को अत्यन्त अनीतिमय उपायों से नष्ट किया गया है। मलमल बनाने वाले कारीगरों के अँगूठे तक कटवा डाले गये! यह सब अत्याचार मिल के चर्बी लगे वस्त्रों के लिए ही हुआ था!

तात्पर्य यह है कि गांधीजी ने दया से आर्द्र होकर वेश्याओं के कपड़े देख कर अपने वस्त्र सीमित कर लिये। गांधीजी तो

एक खद्दर के टुकड़े और लंगोटी पर निर्वाह करने लगे, पर आप क्या चर्बी वाले मिल के कपड़े भी नहीं छोड़ सकते ?

इस विषय में अव्रत की क्रिया की दृष्टि से भी विचार करो। मैनचेस्टर का चर्बी लगा हुआ वस्त्र पहनने से अव्रत की कैसी क्रिया लगती है ? वहाँ के वस्त्र का एक टुकड़ा पहनने से भी आपको सारे मैनचेस्टर की अव्रत की क्रिया लगती है। यही बात अन्य चर्बी वाले वस्त्रों के संबंध में कही जा सकती है। ऐसा होने पर भी क्या आप चर्बी वाले मिल के वस्त्र नहीं त्याग सकते ?

गांधीजी की दया का एक और उदाहरण सुनिये। सुना है, राजकोट के ठाकुर साहब लाखाजीराज गांधीजी के प्रति बहुत सद्भाव रखते थे। गांधीजी जब राजकोट आये, तो लाखाजीराज ने उन्हें मान-पत्र देने का विचार किया। मान-पत्र रखने के लिए उन्होंने पैरिस से एक बढ़िया संदूक बनवा कर मँगवाया। संदूक अत्यन्त सुन्दर था। पर जिसके हृदय में पाप के प्रति गर्हा होती है, वह दूसरों के पाप को भी अपना पाप मानता है। बेटे की बीमारी के लिए बाप अपने अभाग्य को कोसता है। बाप अपने बेटे को ही बेटा समझता है, पर जिसका हृदय अत्यन्त उदार होता है, जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की विशाल भावना का प्रतीक बन जाता है, वह इस बात का भलीभाँति विचार करने लगता है कि मेरे असंयम से किस-किस को किस-किस प्रकार का कष्ट होता है!

गांधीजी ने राजकोट में ही शिक्षा पाई थी और वहीं पर साधुमार्गी जैन महात्मा बेचरजी स्वामी से मदिरा, मांस और परस्त्री-सेवन का त्याग किया था। उन्होंने जिन चीजों का त्याग

किया, अनेक कष्ट उठाने पर भी फिर कभी उनका सेवन नहीं किया।

आज मेरे विषय में कहा जाता है कि–'मैं त्याग करने-कराने की बात कम करता हूँ। वनस्पति और ज़मीकंद आदि के त्याग का उपदेश कम देता हूँ। पूर्ववर्ती आचार्य पूज्य श्रीलालजी महाराज तो इसके लिए बहुत उपदेश देते थे।' मेरे विषय में यह कहा जाता है। पर मैं कहता हूँ—वनस्पति, जमीकन्द आदि के त्याग का उपदेश देना मेरे लिए आनन्द की बात है। परन्तु उसके लिए पात्र भी तो चाहिए! आज मानव-समाज में बहुत बड़े-बड़े पाप फूट निकले हैं। ऐसे बड़े-बड़े पाप पहले नहीं थे। तब, छोटे पापों का त्याग कराने से पहले बड़े पापों का त्याग कराना आवश्यक है या नहीं? जब बड़े पापों की प्रचुरता न थी, तब छोटे पापों का त्याग कराना उचित था और जब बड़े पापों का प्राचुर्य हो गया है तो पहले उन्हीं का त्याग कराना उचित है। इस समय जमीकन्द और रात्रि-भोजन के त्याग के उपदेश को प्रधानता दी जाय, या पंचेन्द्रिय जीवों की घोर हिंसा करके प्राप्त की जाने वाली चर्बी लगे हुए वस्त्रों के त्याग के उपदेश को प्रधान-ता दी जाय? मैं जिन बड़े पापों का उल्लेख अपने उपदेश में करता हूँ, उन्हें आप लोग आज ही त्याग दीजिए। फिर छोटे पापों के त्याग का उपदेश देने में मुझे असीम प्रसन्नता होगी। बड़े-बड़े पापों की ओर ध्यान न देकर अपेक्षा-कृत छोटे पापों को पहले दूर करने के लिए कैसे कहा जाय?

लाखाजीराज पेरिस से बनकर आये हुए संदूक में मानपत्र देने लगे। उस समय गांधीजी ने कहा— हमारे लाखों भाई रोटी के

लिए तरस रहे हैं। इस अवस्था में मुझे ऐसे संदूक में मानपत्र देना क्या मेरा उपहास नहीं है ? ऐसा कीमती संदूक रखने की जगह भी मेरे घर में नहीं है। गांधीजी में यह कैसा अपुरस्कार भाव है !

गांधीजी में अनेक उत्तमोत्तम सद्गुण हैं। उनकी प्रामाणिकता की प्रशंसा उनके विरोधी भी करते हैं। उनकी सादगी सराहनीय है। हृदय में सच्ची दया तभी अंकुरित होती है, जब श्रीमन्ताई का ढोंग त्याग कर सादगी अपनाई जाती है। इसीलिये उन्होंने श्रीमन्ताई त्याग कर फ़कीरी वाना धारण किया है। वे अगर चाहते तो श्रीमान् बन कर संसार के सभी भोग-विलास भोग सकते थे। कहते हैं—गांधीजी के लड़के ने उन्हें पत्र लिखा था कि—'अब आप बड़े आदमी गिने जाते हैं, आप वैरिस्टर भी हैं और बुद्धिमान भी हैं। इसलिए अब आप ऐसा कोई व्यवसाय सोचिये जिससे हम लोग श्रीमान् बन सकें।' उसका अत्यन्त भावमय और मार्मिक उत्तर गांधीजी ने दिया था। उन्होंने लिखा था—मैं सुदामा और नरसी मेहता से भी ज्यादा ग़रीब बनने की भावना रखता हूँ। तुम बहुत धनवान बनना चाहते हो और मैं बहुत ग़रीब बनना चाहता हूँ। ऐसी दशा में तुम्हारा और मेरा मेल कैसे बैठेगा ?

आजकल बहुत-से लोग श्रीमंताई के ढोंग में पड़ कर ग़रीबों की ओर से आँखें बंद कर लेते हैं। उनके दिल में दीन-दुखियों की सेवा-सहायता करने का विचार तक नहीं आता है। मगर उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि समाज की यह विषमता एक दिन असह्य हो जायगी और तब भयंकर क्रांति होगी। उस क्रांति

में गरीब-अमीर का भेद-भाव विनष्ट हो जायगा और एक नई सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होगा। बनेड़ा (मेवाड़) में पूज्य श्रीलालजी महाराज ने कहा था कि गरीबों पर दया करो। उनकी उपेक्षा न करो। नहीं तो बोलशेविज्म आ जायगा! उस समय आप श्रीमंत लोगों को कष्ट में पड़ना पड़ेगा। उस समय गरीब लोग अमीरों से कहेंगे—'बताओ, तुम्हारे पास यह धन कहाँ से आया है? हम गरीबों की रोटियों को पैसे के रूप में जमा करके हमें तुमने भूखों मारा है। अब तुम अमीर और हम गरीब नहीं रह सकते। तुम्हें भी हमारे समान बनना पड़ेगा। हमारे समान परिश्रम करके खाना होगा। अब दूसरे के परिश्रम पर चैन की गुड्डी नहीं उड़ा सकते। बिना पर्याप्त परिश्रम किये किसी को भर-पेट खाने का क्या अधिकार है?' इस प्रकार जिन गरीबों की आज उपेक्षा की जाती है वही गरीब आपकी श्रीमंताई नष्ट कर डालेंगे। अगर आप चाहते हैं कि बोलशेविज्म न आवे—क्योंकि वह सिद्धांत भी अनेक दोषों और त्रुटियों से भरा हुआ है—तो आपको गरीबों की सुधि लेनी चाहिए। अगर आप गरीबों की रक्षा करेंगे, तो गरीब आपकी रक्षा में अपने प्राण तक निछावर कर देंगे। अतएव गरीबों की सहायता के लिए और अपनी रक्षा के लिए खादी को अपनाओ। गरीबों की रक्षा किये बिना आपकी रक्षा होना कठिन है। चर्बी के वस्त्र त्यागने पर आपकी आत्मा को शांति मिलेगी, गरीबों की सहायता होगी, और आप पाप से बचे रहेंगे। इससे मुझे भी प्रसन्नता होगी। मेरी यह प्रबल कामना है कि आपको सुबुद्धि प्राप्त हो और इसके लिए आप परमात्मा की शरण ग्रहण करें, जिससे आपकी आत्मा का कल्याण हो!

जन्माष्टमी
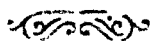
यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

यह परमात्मा की प्रार्थना है। सभी सम्प्रदायों में परमात्मा की प्रार्थना करने की परिपाटी है। संसार का प्रत्येक आस्तिक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में परमात्मा की प्रार्थना करता है, पर साम्प्रदायिकता के मोह में पड़कर प्रत्येक यही माने बैठा है कि परमात्मा हमारा, केवल हमारा ही है।

इसके विरुद्ध, जिन्होंने परमात्मा के स्वरूप को भली-भाँति समझ लिया है, वे ज्ञानी पुरुष यह मानते हैं कि परमात्मा सभी का है—सभी के लिए है। परमात्मा किसी एक का नहीं है और जो किसी एक का है वह परमात्मा नहीं है। सूर्य किसका है?

सूर्य क्या किसी एक का होकर रहता है ? वह सब को समान प्रकाश देता है। जो सब को समान रूप से प्रकाश नहीं देता, वह सूर्य ही नहीं है।

परमात्मा की प्रार्थना करने वाले भक्त अगर यह मानते हैं कि परमात्मा त्रिलोकीनाथ है और वह अपने गुणों के द्वारा सर्वव्यापक है तो उन्हें यह भी मानना चाहिए कि वह सब का है। पुरातन महात्माओं ने अपनी गहरी अनुभूति के आधार पर 'परमात्मा सब का है', इस प्रकार की भावना व्यक्त की है।

जिन्होंने ज्ञान का मर्म नहीं पाया है और जिनका अन्तःकरण राग-द्वेष से मलिन है उनमें अहंकार और ममत्व की प्रबलता होती है। वह अहंकार या ममकार लौकिक वस्तुओं तक सीमित नहीं रहता। जब उसकी अत्यधिक प्रबलता होती है तब परमात्मा जैसी सार्वजनिक वस्तु भी अहंकार की परिधि में आ जाती है और लोग अभिमान के साथ कहते हैं—परमात्मा हमारा है, वह किसी और का नहीं है ! पर किसी का कोई भी प्रयत्न जैसे आकाश को सार्वजनिक होने से नहीं रोक सकता, उसी प्रकार वह ईश्वर को भी साम्प्रदायिकता के तंग दायरे में बंद नहीं कर सकता। अतएव हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि परमात्मा सब का है अर्थात् उसकी भक्ति से सब अपना कल्याण कर सकते हैं। परमात्मा के विषय में भेदभाव को कोई स्थान नहीं है।

प्राचीन काल के महात्माओं की कृतियों में, यदि उन्हें बारीक दृष्टि से देखा जाय तो, स्पष्ट प्रतीत होगा कि वे इस बात का पूर्ण ध्यान रखते थे कि धर्म क्लेश-कलह का कारण न होने

पाए। धर्म, मंगलकारक ही नहीं है, साक्षात् मंगल है। और जो स्वयं मंगल है, वह क्लेश-कलह रूप अमंगल का जनक कैसे हो सकता है ? ऊपर कहे गये श्लोक में यही उज्ज्वल भावना दृष्टिगोचर होती है। आज धार्मिक उदारता का वायु बहने लगा है, इसलिए मैं परमात्मा की एकता का प्रतिपादन नहीं करता, वरन् प्राचीन धार्मिक ग्रंथों से यह पता चलता है कि अनेक पूर्ववर्ती महात्माओं ने अभेद-दशा का अनुभव किया था और परमात्मा की अभेद-रूप में प्रार्थना की थी।

अनुभूति-शून्य लोग परमात्मा को तो पाते नहीं, परमात्मा का नाम मात्र पाते हैं। परमात्मा, परम प्रकर्ष को प्राप्त अनंत गुणों का अखंड समूह है। वह एक भावमय सत्ता है, पर बहिर्दृष्टि लोग उसे शब्दमय मान बैठते हैं। अनंत गुणमय होने के कारण परमात्मा के अनंत नाम हैं। उन सब नामों के वाच्य रूप में जो एकता है, उसे न समझ पाने के कारण लोग परमात्मा के खंड-खंड करने पर उतारू हो जाते हैं। उनके लिए परमात्मा से बढ़कर परमात्मा का नाम है। अतएव वे नाम को पकड़ बैठते हैं। नाम के आवरण में छिपी हुई विराट और व्यापक सत्ता को वे नहीं पहचानते। जिन्हें अन्तर्दृष्टि का लाभ हो गया है और जो शब्दों के व्यूह को चीर कर भीतरी मर्म तक पहुँचने का सामर्थ्य रखते हैं, वे नाम को गौण और वस्तु को प्रधान मानने लगते हैं। अतएव हमारे भीतर यह दिव्य भावना आनी चाहिए कि परमात्मा सब का है। उसे क्लेश-कदाग्रह का आधार बनाकर आपस में लड़-मरना नहीं चाहिए।

एक प्राचीन महात्मा कहते हैं—शैव जिसे शिव कह कर पूजते हैं, बौद्ध जिसे बुद्ध कहते हैं, वेदान्ती जिसे ब्रह्म कहते हैं, नैयायिक जिसे कर्त्ता कहते हैं, जैन जिसे अर्हन् कहते हैं, और मीमांसक जिसे कर्म कह कर अपनी भावना व्यक्त करते हैं, वह—जो भी कोई परम मंगल मूर्ति है—हमें सिद्धि प्रदान करे। कौन समस्त प्रयोजनों को सिद्ध करे, इस सम्बन्ध में कहा गया है—

त्रैलोक्यनाथो हरिः।

'हरि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

हरति पापानि इति हरिः।

'हर' शब्द की भी ऐसी ही व्युत्पत्ति है। अर्थात् जो पापों का हरण, विनाश करता है, वह हरि या हर कहलाता है। शिव किसे कहते हैं, इस संबंध में कहा गया है—'सत्यं शिवं सुन्दरम्' अर्थात् जो सत्य है, शिव यानी कल्याणमय है और सुन्दर है, वह हर या शिव है। त्रिलोकीनाथ हरि से पाप हरण करने की प्रार्थना की गई है और पापों को हरने में हरि और हर समान अर्थ रखते हैं। फिर इन दो नामों के अर्थ में—जिसके यह दो नाम हैं उस परमात्मा में - अन्तर क्या है?—जिससे नाम की आड़ लेकर सिर-फुटौवल किया जाय? बौद्ध लोग भले ही परमात्मा को 'बुद्ध' नाम देकर उसकी प्रार्थना करते हैं, पर वस्तु तो वही है। उनकी प्रार्थना भी पाप का नाश करने के लिए ही है। फिर हरि, हर या बुद्ध में भेद क्या रहा? मीमांसक उस परमतत्त्व को कर्म-रूप मानते हैं। पर वे कर्म, पापनाश

करने के लिए करते हैं या पाप बढ़ाना उनका उद्देश्य है ? जैन लोग परमात्मा को अर्हन् कहते हैं। लेकिन अर्हन् कह कर पाप बढ़ाने के लिए परमात्मा की प्रार्थना करते हैं या पाप नष्ट करने के लिए ? जब पापों का नाश करने के लिए ही इन सब नामों से परमात्मा की प्रार्थना की जाती है, तो क्लेश और कलह का कारण क्या है ? जल, सलिल और पानी, जब एक ही वस्तु के अलग-अलग नाम हैं तो क्या जल से ही प्यास बुझेगी ? पानी से नहीं बुझेगी ? तात्पर्य यह है कि प्यास शान्त करने के लिए चाहे जल पिया जाय, चाहे सलिल पिया जाय और चाहे पानी पिया जाय, सब एक ही बात है। इसी प्रकार पाप नाश करने के लिए चाहे किसी भी नाम से परमात्मा की प्रार्थना की जाय, उसमें भेद नहीं है। क्योंकि नाम-भेद से वस्तु में भेद नहीं होता। वस्तु की विभिन्नता गुण-मूलक है। अतएव परमात्मा की प्रार्थना करने में उदारभाव से काम लेना चाहिए। जैन स्तोत्रों में जैनाचार्यों ने इसी प्रकार की उदार भावना से काम लिया है। जैन स्तोत्रों में 'भक्तामर स्तोत्र' अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रिय है। उसमें श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि किसी भी सम्प्रदाय का भेद नहीं है। उसमें कहा है:—

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,

ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।

योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,

ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धाताऽसि धीर शिवमार्ग विधेर्विधातात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

इन श्लोकों में परमात्मा की प्रार्थना ब्रह्मा, विष्णु, शिव और पुरुषोत्तम आदि नामों से की गई है। यहाँ इन सब में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रक्खा गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

तत्र यत्र समये यथा तथा, योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवान्, एक एव भगवन् ! नमोऽस्तु ते ॥

अर्थात्—चाहे जिस सम्प्रदाय में, चाहे जिस रूप में, चाहे जिस नाम से, आप चाहे जो हों, समस्त दोषों से रहित आप एक ही हैं। ऐसे हे एक-रूप भगवन् ! आपको नमस्कार हो।

इस श्लोक में स्पष्ट रूप से परमात्मा के विभिन्न नामों में एकता का प्रतिपादन किया गया है। वास्तव में प्रार्थना करने से पहले हमें प्रार्थना के उद्देश्य का निश्चय कर लेना चाहिए। हम पाप बढ़ाने के लिए प्रार्थना करते हैं या पाप नष्ट करने के लिए? यदि प्रार्थना का उद्देश्य पाप नष्ट करना है तो परस्पर की भिन्नता और द्वेष-भावना से पाप नष्ट नहीं होते। पाप नष्ट करने का उपाय क्या है, यह मैं आपको बतलाना चाहता हूँ। आप ध्यान लगा कर सुनें और उदारता के साथ उस पर विचार करें।

आज जिस महापुरुष का जन्म-दिन है, उस महापुरुष ने भारत में जिस शांति की प्रतिष्ठा की थी और जिस उदारता का आदर्श उपस्थित किया था, और इसके लिए उसने जो महान् कार्य किये थे, उन्हें भूल कर हम अपना भी अकल्याण करते हैं और देश का भी अकल्याण करते हैं। आज की जनता उस महापुरुष के कार्य को भूल कर दुःखी हो रही है। जन्माष्टमी का यह दिन भारत के कौने-कौने में मनाया जाता है। यद्यपि साम्प्रदायिक या प्रांतीय भेद के कारण आज के दिन को कोई श्रावण वदि ८ कहते हैं, कोई भादों वदि ८ कहते हैं, लेकिन इस दिन को जन्माष्टमी सभी कहते हैं। श्रीकृष्ण के उज्ज्वल चरित्र के कारण सभी लोग उन्हें मानते हैं। सभी के हृदय में उनके प्रति आदर और श्रद्धा का भाव है। केवल सम्प्रदाय-भेद के कारण उन्हें भिन्न-भिन्न रूप में माना जाता है।

कोई यह कह सकता है कि यदि श्रीकृष्ण एक ही थे, तो इस प्रकार की साम्प्रदायिक भिन्नता का कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि दृष्टि-भेद के कारण एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देती है। उदाहरण के लिए रामायण को लीजिए। वाल्मीकीय रामायण, तुलसीदास की रामायण और गिरिधर की रामायण, इन सब में एक ही राम-चरित्र का वर्णन किया गया है, फिर भी तीनों में, राम के चरित्र में बहुत अन्तर पाया जाता है। रामचन्द्र तो एक ही थे, पर उनका वर्णन करने वालों की दृष्टि भिन्न-भिन्न थी। यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः। इसी प्रकार कृष्ण का चरित महाभारत, गीता, भागवत

और गीतगोविन्द से अलग-अलग प्रतिबिम्बित होता है। यह तो प्राचीन काल की बात है, मगर वर्त्तमान में भी ऐसा ही देखा जाता है। लोकमान्य तिलक और गांधीजी से कौन अपरिचित है? यह दोनों ही भारतवर्ष के विख्यात पुरुष हैं और दोनों ने ही गीता के विषय में अपना-अपना मन्तव्य प्रकट किया है। मगर तुलनात्मक अध्ययन करने वाले को यह स्पष्ट जान पड़ेगा कि तिलक के कृष्ण और गांधीजी के कृष्ण में पर्याप्त अन्तर है। इस प्रकार दृष्टि-भेद से एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई पड़ती है और प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपनी मूल दृष्टि के अनुसार ही कृष्ण को चित्रित किया है। जैन-साहित्य ने भी कृष्ण को अगर अपनी मूल परम्परा के अनुकूल अपनाया है तो यह स्वाभाविक ही है। प्रत्येक महापुरुष का जीवन सम्प्रदाय की सीमा से आगे बढ़ जाता है। वह धर्म के उस विशाल और वृहद् क्षेत्र में विस्तीर्ण हो जाता है, जहाँ सम्प्रदाय अस्त हो जाते हैं या सब सम्प्रदाय मिलकर एकमेक बन जाते हैं। ऐसे पुरुष का जीवन-व्यवहार किसी भी सम्प्रदाय के मुख्य आचार से विरोधी नहीं रह जाता। अतः सभी सम्प्रदाय उसे सन्मान की दृष्टि से देखते हैं और अपने सम्प्रदाय से अभिन्नता पाकर उसे अपने सम्प्रदाय के रंग में रँग देते हैं। ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक है। कोई परमात्मा या महापुरुष को किसी भी दृष्टि से अपनावे, तत्त्व सब का एक होना चाहिए। ध्येय में भिन्नता नहीं होनी चाहिए। चाहे कचहरी हो, स्कूल हो, या दुकान हो—सभी जगह पाँच और पाँच, दस गिने जाते हैं। यद्यपि सब का कार्य भिन्न है, फिर भी पाँच-पाँच को दस मानने में कोई

अन्तर नहीं है। इसी प्रकार महापुरुष को चाहे जिस रूप में ग्रहण किया जाय पर लक्ष्य सब का एक ही होना चाहिए। यह विचार कर उदारता से काम लेना चाहिए कि महापुरुष सभी के हैं और उनसे सभी को प्रेरणा प्राप्त हो सकती है। दृष्टि-भिन्नता के कारण किसी महापुरुष या परमात्मा के नाम पर आपस में द्वेष उत्पन्न करना या ध्येय से विपरीत आचरण करना उचित नहीं है।

यह सभी जानते हैं कि कृष्ण का जन्म कंस के कारागार में हुआ था। ऐसा होने पर भी कृष्ण का महत्व प्राचीन काल से अब तक बना हुआ है कि सभी लोग उनका जन्म-दिन मना कर लाभ उठाते हैं। कृष्ण जैसे सत्वशाली महापुरुष का जन्म कारागार में क्यों हुआ था, यह प्रश्न ही इस बात की सूचना देता है कि माया का चश्मा उतार देने पर और उदारता से काम लेने पर कृष्ण के जीवन से बहुत कुछ लाभप्रद शिक्षा ली जा सकती है।

कृष्ण का जन्म आज की काली निशा में, अर्ध-रात्रि के समय कंस के काले क़ैदखाने में हुआ था। मगर क़ैदखाने में जन्मे हुए कृष्ण हमारा कल्याण नहीं कर सकते; हमारा कल्याण हमारे हृदय में जन्मे हुए कृष्ण ही कर सकेंगे। अगर आप कृष्ण को आदर्श पुरुष मानते हैं, अगर आपके हृदय में कृष्ण के प्रति श्रद्धा का भाव है, तो कृष्ण को अपने अंतःकरण में जन्माओ। कृष्ण के जीवन का अनुकरण करने के लिए उनके जीवन से फूट पड़ने वाली सादगी को अपनाओ। ऐसा करने से कृष्ण-जन्माष्टमी का मनाना वास्तविक कहा जा सकता है। भूतकाल में, आपके इसी जीवन में अनेकों जन्माष्टमियाँ आईं और चली गईं

हैं। उनके द्वारा आपका क्या कल्याण हुआ है ? इसी भाँति यह जन्माष्टमी भी अगर आपने मनाली और हृदय की कालिमा को नष्ट करने के लिए कृष्ण को हृदय में न जन्माया तो आपका कल्याण न होगा। अतएव यह न समझो कि कृष्ण का जन्म हजारों वर्ष पूर्व हुआ था, वल्कि यह मानो कि कृष्ण अभी अभी हमारे हृदय में जन्मे हैं। ऐसा अनुभव करोगे तो आपका कल्याण होगा। जो हजारों वर्ष पहले कृष्ण का जन्म लेना मानता है, वह कृष्ण को ठीक तरह नहीं समझा है। कृष्ण के स्थूल शरीर को कृष्ण नहीं कहा जा सकता। कृष्ण का अर्थ है—सादगी, कृष्ण का अर्थ है सत्य, कृष्ण का अर्थ है निरभिमानता और कृष्ण का अर्थ है सरलता। जिसने कृष्ण का यह भावमय अर्थ समझा, उसी ने कृष्ण को समझा है और वही कृष्ण के सहारे आत्म-कल्याण कर सकता है।

अगर आप हजारों वर्ष पूर्व कृष्ण का जन्म मानेंगे, तो आपको ऐसा जान पड़ेगा कि कृष्ण आज अतीत के उदर में समा चुके हैं। अब उनकी कोई सत्ता नहीं है। और जिसकी सत्ता नहीं है, वह हमारे कल्याण में निमित्त कैसे हो सकता है ? अतएव ऐसा सोचकर आप कृष्ण से कोई लाभ न उठा सकेंगे। आपको उनका विरह प्रतीत होगा और विरह में तादात्म्य की अनुभूति नहीं हो सकेगी। अतएव कृष्ण को आप सत्य, सरलता, निरहंकारता आदि गुणों के रूप में मौजूद समझें, अपने साथ उनके तादात्म्य का अनुभव करें और इस अनुभव के द्वारा आत्मा का कल्याण करें।

यह बात कृष्ण के लिये कही गई है। लेकिन पहले कहा जा चुका है कि वास्तव में परमात्मा के नाम ही जुदे-जुदे हैं, परमात्मा नहीं। अतएव जो बात कृष्ण के विषय में कही जाय, वह उन सबके लिए समझनी चाहिए जिनका नाम लेकर परमात्मा की प्रार्थना की जाती है।

कृष्ण पुराने हैं या नये? इस प्रश्न का उत्तर में यह दूँगा कि कृष्ण नवीन हैं, पुराने नहीं। सूर्य अनादि से प्रतिदिन उदित होता है, फिर जब सूर्य प्रभात में उदित होता है, तब कमल विकसित होते हैं या नहीं? कमल यह नहीं सोचते कि सूर्य पुराना है तो हम क्यों प्रफुल्लित हों? हाँ, जो कमल मर गये हैं— जिनकी जड़ उखड़ गई है, वे सूर्य से सूखते हैं। जीवित कमल तो सूर्य का उदय होने पर विकसित होते ही हैं। इसी प्रकार अगर आपके अन्दर जीवन है—जागृति है, तो आप कृष्ण को नूतन ही मानेंगे और नूतन मानकर अपने हृदय को विकसित करेंगे। अगर आपने कृष्ण को भूत माना—पुराना समझा और उनके चरित से आपके हृदय में परिवर्तन नहीं हुआ, तो फिर आपको यही मानना चाहिए कि हमारा हृदय मरा हुआ है अर्थात् उसमें की भावना मर गई है।

प्रभात की वेला होने पर पक्षी अपने घोंसलों में सोये नहीं पड़े रहते। उनमें मानो नव-जीवन का संचार हो जाता है। वे अपने कल-रव द्वारा सूर्य का आह्वान करते हैं या नवीन आलोक-पुंज पाकर अपने हृदय में न समा सकने वाले हर्ष को बाहर उँड़ेलते हैं। वे सूर्य को पुरानी चीज समझ कर उसकी ओर

उपेक्षा नहीं करते और न प्रमाद का ही सेवन करते हैं। जिस पक्षी में जीवन नहीं है वह भले ही नहीं बोलता। हर्ष भी वह प्रकट नहीं करता। परन्तु जीवित पक्षी बिना हर्ष की अनुभूति किये नहीं रह सकता। जब पक्षी जैसा प्राणी ऐसा करता है तब विवेकशाली मनुष्य को क्या करना चाहिए? जो मनुष्य सूर्योदय होने पर भी टाँगें पसारे पड़ा रहता है, वह आगे क्या कर सकता है? साथ ही यह कैसे कहा जा सकता है कि उसका हृदय जीवित है। जिसका हृदय जीवित नहीं है वह कैसे समझेगा कि सूर्य या कृष्ण पुराने नहीं वरन् प्रतिक्षण नूतन हैं। साधु के लिए कहा गया है कि अगर कोई साधु सूर्योदय होने पर भी पड़ा रहता है तो वह गृहस्थों के टुकड़े खाकर पृथ्वी का बोझा बनता है। मगर आप गृहस्थ क्या करते हैं? आप पहर भर दिन चढ़े तक तो नहीं सोते पड़े रहते?

सूर्य निकलने पर भी जो लोग सुस्त पड़े रहते हैं, जिनमें जागृति का कोई चिन्ह नजर नहीं आता, उनके लिए जिस प्रकार सूर्य का निकलना और न निकलना बराबर है, उसी प्रकार सूर्य से भी अधिक तेजस्वी महापुरुष का जन्म-दिन होने पर भी जो सुस्त और निरुत्साह बना हुआ है, उसके लिए महापुरुष का जन्म होना निरर्थक है।

आप यह कह सकते हैं कि हम अत्यंत उल्लास के साथ आज कृष्ण का जन्म-दिवस मनाएँगे। फिर हमारे लिए कृष्ण-जन्म निरर्थक क्यों है? मगर मैं पूछता हूँ—जन्म-दिन मनाने का आपका तरीका क्या है? अच्छा खाना-पीना और पहनना-

ओढ़ना ही क्या जन्माष्टमी मनाना है ? ऐसा करना एक प्रकार की विडंबना है—ढोंग है। जब कृष्ण स्वयं ढोंग से परे थे, तब उनके जन्म-दिन के नाम पर ढोंग रचने वाले क्या जन्माष्टमी के उपासक कहला सकते हैं ? अगर आप सचमुच जन्माष्टमी मनाना चाहते हैं तो सर्व-प्रथम हृदय को जागृत करो, हृदय में कृष्ण को जन्माओ और कृष्ण के जीवन-व्यवहार का गहरा विचार कर सत्य एवं शील को अपनाओ। ऐसा करोगे तभी सच्ची जन्माष्टमी मनाई जा सकेगी।

अब, संक्षेप में, मैं यह बताऊँगा कि कृष्ण कैसी परिस्थिति में जन्मे थे और उनके जन्म-काल में भारतवर्ष की क्या दशा थी ?

जब कृष्ण का जन्म हुआ था, तब भारत धर्म से शून्य-सा हो रहा था। चहुँ ओर अधर्म का प्रचंड प्रताप फैला हुआ था। उस समय राजा पापी थे, यह कहना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि पाप कोई स्थूल वस्तु नहीं है। वह किसी के हृदय में ही जन्मता है और जिसके हृदय में जन्मता है उसके द्वारा जगत् में त्राहि-त्राहि मच जाती है। जब कृष्ण जन्मे थे, तब भी ऐसा ही हो रहा था। अधर्म और अत्याचार के कारण सर्वत्र हाहाकार मच रहा था। एक ओर कंस कहता था—मैं राजा हूँ, राजा – परमात्मा का प्रतिनिधि ! मेरा वाक्य परमात्मा का अमिट आदेश है। मेरी कृति परमात्मा की कृति है। दूसरी ओर मदांध जरासंध हुँकारता था, और तीसरी ओर दिल्लीपति दुर्योधन गरजता था। वह कहता था —मैं ईश्वर का अंश हूँ ; विश्व के ऐश्वर्य पर मेरा एकाधिपत्य है। ऐश्वर्य मेरे लिये है। जगत् की मूल्यवान् वस्तुएँ मेरे

लिए हैं। संसार की समस्त सम्पत्ति मेरे उपयोग के लिए है! इसी प्रकार शिशुपाल, रुक्मकुमार, कालीकुमार और कालीनाग भी अहंकार के पुतले बने बैठे थे। उनके उच्छृंखल अत्याचारों का पृथ्वी पर नंगा नाच हो रहा था। संसार में धर्म भी कोई चीज है, न्याय की भी यहाँ सत्ता है, यह बात उन्हें समझ ही नहीं पड़ती थी। अगर कोई धर्म का नाम उनके सामने लेता था तो कहते थे—'धर्म क्या है ? हम जो कहते हैं, जो करते हैं, वही धर्म है, क्योंकि हम ईश्वर के अंश हैं! धर्म निर्बलों का सहारा है, अनाथों का नाथ है। हम न निर्बल हैं, न अनाथ हैं। हम से और धर्म से क्या वास्ता ? हमारे राजदंड को देखते ही धर्म और न्याय नौ-दो-ग्यारह हो जाते हैं। अतएव यहाँ न धर्म की दुहाई कारगर हो सकती है और न नीति की।' उस समय के नीतिज्ञ विद्वानों ने इन अभिमानी राजाओं को समझाने का प्रयत्न किया था, परन्तु सबको यही उत्तर मिलता था कि हम धर्म के गुलाम नहीं हैं—शास्त्र के दास नहीं हैं। हमें जो रुचिकर है, वही शास्त्र है। हमें केवल अर्थशास्त्र से जानकारी है और वह भी इस रूप में कि किस प्रकार पराया धन अपना बना लिया जाय ? हम धनोपार्जन के लिए कहाँ जाएँ ? दुनिया कमावे और हम उसका उपभोग करें, बस यही अर्थशास्त्र का मर्म है।

उस समय ऐसा अन्याय फैला हुआ था। न्याय बेचारा मारा-मारा फिरता था। धर्म का नाम लेना मानों मुसीबत को निमंत्रण देना था। जैसे घोर अंधकार में डूबा हुआ मनुष्य सूर्य के उदय की व्याकुलतापूर्वक प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार उन

समाज के लोग किसी महापुरुष की प्रतीक्षा कर रहे थे, जो भूतल पर प्रकट होकर पाप का नाश करे और धर्म-नीति की प्रतिष्ठा करे.

महापुरुष का जन्म इसलिए कल्याणकारी माना जाता है कि वे पापों का संहार करते हैं। हम लोग भी इसी कारण महापुरुष की पूजा करते हैं। मगर यह देखना चाहिए कि अमुक महापुरुष ने जिस पाप को निर्मूल किया था, वह पाप हमारे हृदय में घुसा तो नहीं है? अगर घुसा हुआ है तो उसे निर्मूल करने के लिए कोई न सकेगा? परमात्मा की प्रार्थना करते हुए यही कहा जाता है—'हे प्रभो! अधर्म नष्ट करो।' कृष्ण के लिए भी यही कहा जाता है। अधर्म के बदले धर्म को नष्ट करने की प्रार्थना कोई नहीं करता। जब आप अधर्म का नाश करने के लिए बुलाते हैं, तब वह क्या आपके हृदय में अधर्म होने पर आपको छोड़ देगा? क्या आप सोचते हैं कि वह किसी प्रकार का पक्षपात या भेद करेगा? उसे अधर्म नष्ट करना है; अतएव जहाँ अधर्म होगा, वहाँ उसे वह नष्ट करेगा ही। अतएव अगर आप परमात्मा की प्रार्थना करते हैं, तो अपने हृदय में से अधर्म को दूर कर दो। ऊपर से कृष्ण-कृष्ण चिल्लाने और भीतर-भीतर कंस का समर्थन करने से काम न चलेगा। ऐसा हुआ तो याद रखना—कृष्ण, कंस का ध्वंस करने के लिए ही जन्मे थे! 'मुँह में राम बगल में छुरी' का पाखंड वहाँ नहीं चल सकता।

श्रीकृष्ण के जन्मकाल की परिस्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिये सबके अत्याचारों का वर्णन न करके केवल कंस के

अत्याचारों का ही उल्लेख करूँगा । कंस एक प्रबल अत्याचारी था। उसके अत्याचारों का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वह अपने पिता को कारागार के सींखचों में बंद करके स्वयं राजा बन बैठा था। कंस के इस कार्य से प्रसन्न होकर और उसे वीर समझकर जरासंध ने अपनी कन्या उसे ब्याह दी। जरासंध का दामाद बन जाने के कारण उसका साहस और अधिक बढ़ गया। अब वह समझने लगा कि जगत् में मैं ही मैं हूँ—मेरा मुकाबिला करने वाला संसार में और कोई नहीं है।

जैन-शास्त्र कहता है—कंस का अन्याय देख कर उसके भाई अतिमुक्त ने यह निश्चय किया—'जो अपने पूजनीय पिता को कैद करके आप राजा बना है और प्रजा पर घोर से घोर अत्याचार कर रहा है, उसके आश्रय में रहना और उसके अन्याय के विष से विषैले टुकड़े खाना आत्मा का हनन करना है। जंगल में रहना और निरवद्य एवं नीरस आहार पर निर्वाह करना बेहतर और श्रेयस्कर है। कंस के पास रह कर अन्याय का प्रसाद लेना मेरे लिए उचित नहीं है।' ऐसा विचार कर अतिमुक्त ने दीक्षा धारण की और वे मुनि बन गये। एक बार अतिमुक्त मुनि भिक्षा के लिए या कंस की राजचर्या जानने के लिए कंस के महल में गये। वहाँ कंस की रानी जीवयशा मदान्ध होकर मुनि का उपहास करने लगी। उपहास के साथ वह मुनि के प्रति कटुक शब्दों का भी प्रयोग करने लगी। वह बोली—'वाह वाह! यह देखो राजघराने में पैदा हुए हैं! कुल को कलंक लगाते हुए इन्हें लाज नहीं आती! हाथ से कमाकर नहीं खाया

जाता, इसलिए भीख माँगने के लिए दूर-दूर भटकते फिरते हैं। इन्हें लज्जित होना चाहिए सो तो होते नहीं, उल्टे हमें लाज मरना पड़ता है।'

जीवयशा की कठोर वाणी सुनकर मुनि ने उत्तर दिया- 'मेरी भर्त्सना करने के बदले अगर तुमने अपने पापों को देखा होता तो तुम्हारा कल्याण होता। जीवयशा! अपने दोष देखने की निर्मल दृष्टि विरले ही पाते हैं और जिन्हें यह दृष्टि प्राप्त है वे निस्संदेह भाग्यशाली हैं। दूसरों के दोषों को देखने और गुण को दोष समझ लेने से अन्तःकरण मलीन बनता है, पर स्वदोष दर्शन से निर्मलता आती है। फिर भी अगर तुम्हें दूसरे के दोष ही देखने हैं, तो अपने पति को क्यों नहीं देखती, जो पिता को कारागार में बंद करके राजा बन बैठा है और जिसने अपनी संतान के सामने एक सुन्दर आदर्श उपस्थित कर दिया है! इस दुराचार का विचार आते ही लज्जा से मस्तक झुक जाना चाहिए। मैं तो केवल पेट को भाड़ा देने के लिए ही खाता हूँ और इसी लिए भिक्षा माँगता हूँ। मेरी भिक्षा सर्वसम्पत्कारी भिक्षा है। मैं धर्म की आराधना के लिए ही आहार करता हूँ। पर तुम भी तो सोचो कि तुम किसलिए खाती हो? तुम खा-पीकर जो शक्ति प्राप्त करती हो, वह शक्ति अन्याय में व्यय होती है। और जिस अन्याय में आज तुम और तुम्हारे स्वामी आनन्द मान रहे हैं वही अन्याय तुम्हारे विनाश का कारण होगा। तुम अपनी जिस ननँद देवकी का सिर गूंथ रही हो उसके पुत्र द्वारा ही तुम्हारा पति मारा जायगा और तुम्हें वैधव्य की व्यथा भोगनी पड़ेगी। अन्याय का फल उसी समय तुम्हारी समझ में आयगा।'

अतिमुक्त मुनि की खरी बात सुनकर जीवयशा घबरायी और सोचने लगी--'मैंने वृथा ही इन मुनि को छेड़ा।' देवकी के पुत्र द्वारा अपने पति का हनन होगा, यह सुनकर उसके रोंगटे खड़े हो गये। चेहरे पर उदासी छा गई। जीवयशा अपना मुँह लटकाए उदास बैठी थी कि उसी समय अहंकार में चूर कंस भी उसके समीप उसी महल में आ पहुँचा। रानी को उदास देख कर कंस ने कहा--'प्रिये ! इस असामयिक उदासी का कारण क्या है ? सदा प्रफुल्लित रहने वाले तुम्हारे चेहरे पर उदासीनता क्यों झलक रही है ? जब तुम उदासीन रहोगी, तो संसार में प्रसन्नता किसके हिस्से आएगी ? बताओ, उदासी का क्या कारण है ?'

जीवयशा ने कहा—नाथ मेरी उदासीनता का गहरा कारण है। यह कारण इतना भयंकर है कि मुँह से कहते भी नहीं बनता।

कंस—आखिर कहे बिना कैसे चलेगा। उसका प्रतिकार करना होगा। बिना कहे कैसे प्रतिकार होगा ?

जीवयशा—आज आपके भाई अतिमुक्त अनगार यहाँ आये थे। मैंने उनका उपहास किया और कुछ कठोर वचन भी मुँह से निकल गये। उन मुनि ने मुझे कुछ शिक्षा देने के साथ अत्यन्त अनिष्टसूचक भविष्यवाणी की है। उसका स्मरण आते ही कलेजा मुँह को आता है। उन्होंने कहा है—'देवकी का पुत्र तेरे पति का नाश करेगा।' यह सुनकर मेरी चिन्ता का पार नहीं है।

जीवयशा का कथन सुनकर कंस ने अट्टहास किया, मानों होनहार को वह अपने अट्टहास्य से उड़ा देना चाहता हो। उसने जीवयशा से कहा—'बस, इसी बात से इतनी चिन्ता हो गई !

भला इन बाबा-जोगियों की बात का क्या ठिकाना ? वे तो इसी तरह की ऊल-जलूल बातें गढ़ कर दूसरों के मन में भ्रम घुसेड़ देते हैं। बेचारे देवकी के लड़के की क्या मजाल कि वह मुझे मार सके। कदाचित् मारने का प्रयत्न भी करता, तो यह और भी अच्छा हुआ कि हमें पहिले से मालूम हो गया। यह तो उदासी के बदले प्रसन्नता की बात है। देवकी का पुत्र मुझे नष्ट करे, उससे पहले मैं देवकी का ही काम तमाम कर देता हूँ। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। इसमें चिन्ता की बात ही क्या है!'

जीवयशा को सान्त्वना देकर कंस राजसभा में आया। उस समय राजसभा में एक विद्वान् आये थे। कंस के पूछने पर उन्होंने बतलाया—मैं ज्योतिष-शास्त्र में पारंगत हूँ। कंस ने कहा—मुझे ज्योतिष-शास्त्र पर विश्वास नहीं है। पर ज्योतिषी ने कहा—'किसी शास्त्र की प्रामाणिकता, किसी के विश्वास पर अवलम्बित नहीं है। ज्योतिष-शास्त्र अगर प्रमाण है, तो आपके अविश्वास के कारण उसकी प्रामाणिकता नष्ट नहीं हो सकती।' कंस ज्योतिर्वि[द्] की निखालिसता से कुछ आकृष्ट-सा हुआ। उसने कहा—'अगर आप ज्योतिषशास्त्र को प्रमाण मानते हैं तो यह बताइए कि मेरी मृत्यु किसके हाथ से होगी ?'

आज ज्योतिष-शास्त्र के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ फैली हैं। मेरे ख़याल से इसके दो कारण हैं—प्रथम तो ज्योतिष का अविकल ज्ञान नहीं रहा है और दूसरे ज्योतिषी लोग लो[भ] के चंगुल में पड़े हुए हैं। साठ वर्ष के बूढ़े के साथ बारह व[र्ष] की लड़की का लग्न जोड़ने वाला कोई ज्योतिषी ही तो होगा

इस प्रकार लोभ ने इस विद्या को नष्ट-भ्रष्ट-सा कर डाला है। आर्थिक लोभ से प्रेरित होकर किसी भी शास्त्र का दुरुपयोग करना उसका अपमान करने के समान है। गणित विद्या सच्ची है, यह शास्त्र भी मानता है, और जो लोग निस्पृह हैं उनका गणित आज भी सही उतरता है। लेकिन लोभी लोगों ने गणित को बदनाम कर दिया है।

कंस की सभा में आया हुआ ज्योतिषी लोभी नहीं था। लोभी में निर्भयता नहीं होती। निर्लोभ व्यक्ति सत्य कहने से भय नहीं खाता। अतएव ज्योतिषी ने कंस से साफ़-साफ़ कह दिया—'आपके घर में एक ऐसा महापुरुष जन्मेगा, जो आपको नष्ट करेगा।'

कंस—'उसका लक्षण क्या होगा ?'

ज्योतिषी—'वह गोकुल में रह कर बड़ा होगा। गायों से प्रेम करेगा और जंगल में जाकर गायें चराएगा। वह अपने हाथ में बांसुरी रखकर जनता को उसकी मधुर ध्वनि से मोहित कर लेगा। तुम उसे मार डालने का प्रयत्न भी करोगे, पर ज्यों-ज्यों तुम प्रयत्न करोगे, त्यों-त्यों उसका बल बढ़ता जायगा। उसे नष्ट करने में कोई समर्थ न हो सकेगा और वह तुम्हारा नाश करने में समर्थ होगा।'

ज्योतिषी और मुनि की मिलती हुई भविष्य-वाणी सुनकर कंस का कलेजा एक बार काँप उठा। उसके सामने मृत्यु नाचने-सी लगी। पर दूसरे ही क्षण उसकी नास्तिकता ने उसके विचारों

को ढँक लिया। अविश्वास का त्राण उसे प्राप्त हो गया। वह सोचने लगा—'यह लोग बड़े ठग और धूर्त हैं। मेरा लड़का ही क्या मुझे मार सकता है ?'

भविष्यवाणी सुनकर कंस को सावधान हो जाना चाहिए था। उसे अन्याय और अधर्म के मार्ग से विमुख होकर न्याय और धर्म के प्रशस्त पथ की ओर उन्मुख होना चाहिए था। पर कहा है—'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।' कंस के संबंध में यह उक्ति पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। अन्त में कंस ने ज्योतिषी से कहा—तुम्हारी धूर्तता की यहाँ दाल न गलेगी। मैं तुम्हें कैद करता हूँ। मेरा काल जन्मेगा और मुझे मार डालेगा, तब वही तुम्हें कारागार से मुक्त भी कर देगा। अन्यथा मैं तो तुम्हारा काल होता ही हूँ।

राजा लोग कारागार को अपनी रक्षा का सफल साधन समझते हैं। उन्हें न्याय-अन्याय की परवाह नहीं होती। जिस पर उनका कोप हुआ, उसी को जेल के सींखचों में बंद कर देते हैं और अपने-आपको सुरक्षित मान बैठते हैं। मगर सत्ता का यह दुरुपयोग कब तक उनकी रक्षा कर सकता है ?

कंस का कथन सुनकर ज्योतिषी ने कहा—'आपके निर्णय में मीन-मेख हो ही कैसे सकती है ? मुझे अपनी विद्या पर पूर्ण श्रद्धा है। अगर मेरी विद्या सच्ची ठहरे तो ही मुझे जीवित रहना चाहिए; नहीं तो जेल में सड़कर मर जाना ही अच्छा है।'

कंस ने उस ज्योतिषी को जेल के हवाले कर दिया।

भागवत के अनुसार नारद ने कंस को समझाया था और देवकी के पुत्र द्वारा उसकी मृत्यु बतलाई थी। नारद ने कहा था—'तुम जल्दी सँभल जाओ, अन्याय को त्यागो और नीति तथा धर्म के अनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन करो। ऐसा करते हुए अगर मृत्यु भी आ जाएगी, तो शान्ति से मर सकोगे।'

कंस ने नारद से कहा—'महाराज! यह मेरा सद्भाग्य है कि मेरी मृत्यु की सूचना मुझे अभी से मिल गई है। भावी अनिष्ट की सूचना पहले ही मिल जाना निस्संदेह सौभाग्य ही समझना चाहिए। ऐसा होने से, पहले ही उसके निवारण की व्यवस्था की जा सकती है। मैं इस बात से जरा भी भयभीत नहीं हूँ कि देवकी का पुत्र मुझे मारेगा। मैं शूरवीर क्षत्रिय हूँ। मौत मेरे लिए खेल है। दूसरे के प्राण ले लेना मेरे बाएँ हाथ का काम है। आपने मुझे सावधान कर दिया, इसलिए आपका कृतज्ञ हूँ। मैं देवकी को ही देवलोक भेज दूंगा, तब किसका पुत्र मुझे मारने के लिए जन्मेगा? चोर की माँ को मार दिया जायगा तो, चोर कहाँ से आएगा?'

इस प्रकार कह कर वह नारद के सामने ही क्रोध का मारा भड़क उठा। नारद ने उसे फिर समझाया—शान्त होओ। इस प्रकार क्रुद्ध होने से कोई नतीजा नहीं निकलेगा। तुम जो सोचते हो वह सफल नहीं हो सकता। महापुरुष धर्मात्मा होते हैं। धर्म जिसकी रक्षा करता है उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। 'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

कंस को सब ने समझाया, पर वह न माना, न माना। वह न

समझा। पर आप तो समझो और मानो कि पाप की जाहो-जलाली न कभी रही है न रहेगी। दो दिन के लिए कोई भले ही मौज मान ले, पर अन्त में पाप के प्रभाव से पतन अवश्य होता है।

नारद के समझाने पर भी कंस न समझा। उसने कहा—महाराज! अब आप पधारिये। अब आपकी यहाँ अवश्यकता नहीं रही है। मुझे पहले खबर लग गई है तो मैं सारा प्रबंध कर लूंगा। भावी आपत्ति की सूचना देने के लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे पहले ही सब सूचना प्राप्त हो गई।

नारदजी चले गये। कंस ने देवकी को मार डालने का निश्चय किया। पर किसी ने उसे समझाया—कुमारी कन्या को मार डालना अत्यन्त भीषण कृत्य है। ऐसा करने से घोर पाप लगता है, पुण्य क्षीण होता है और जगत् में अपकीर्ति होती है। यद्यपि कंस पाप-पुण्य को नहीं मानता था, पर जगत् में अपकीर्ति फैल जाने का उसे भय था। इसके अतिरिक्त उसने यह भी सोचा कि ऐसा करने से लोग मुझे डरपोक समझेंगे। अतएव उसने देवकी को मार डालने का विचार त्याग दिया। इसके बदले उसने दूसरा उपाय सोचा—देवकी का विवाह कर दिया जाय और उसके गर्भ से जब जो संतान उत्पन्न हो उसे उसी समय तलवार के घाट उतार दिया जाय। ऐसा करने से मैं अपने काल का भी नाश कर सकूंगा, मेरा अपयश भी न होगा और डरपोक भी नहीं कहलाऊँगा।

ऐसा निश्चय करके उसने वसुदेव के साथ देवकी का विवाह

कर दिया। यद्यपि कंस के हृदय में दूसरी बात थी, उसका हृदय कुटिलता से भरा हुआ था; लेकिन ऊपर से उसने वसुदेव के साथ खूब कपट-स्नेह प्रकट किया और वसुदेव की खूब सेवा की। वसुदेव ने इससे प्रसन्न होकर कह दिया—आप जो चाहें वही मैं आपको दूंगा। कंस जानता था—वसुदेव क्षत्रिय हैं और जो बात मुँह से निकालेंगे उसका अवश्य पालन करेंगे। अतएव कंस ने कहा—'यदि आप मुझ पर कृपा रखते हैं तो मैं आपसे यह चाहता हूँ कि मेरी बहन देवकी के गर्भ से जो बालक उत्पन्न हों, वे सब मुझे सौंप दिये जाँय और मैं अपनी इच्छा के अनुसार उनका उपयोग कर सकूं।' वसुदेव के हृदय में लेशमात्र भी यह आशंका नहीं थी कि कंस अपनी बहन के बालकों को मार डालेगा। अतएव उन्होंने सहज भाव से स्वीकृति दे दी। कंस यह स्वीकृति पाकर मानों निहाल हो गया। उसमें नई जान-सी आ गई।

वसुदेव जैसे सत्यवादी के छः बालक मारे जावें, यह नहीं हो सकता। इस संबंध में शास्त्र में कहा है—सुलसा के मृत-पुत्र होते थे। उसने देव की उपासना की। देव ने कहा—'मृत बालक को जीवित कर देना मेरे सामर्थ्य से बाहर है। मगर तुम्हारे मरे हुए बालकों के बदले में मैं ऐसे बालक ला दूंगा, जिनकी समानता कोई बालक न कर सकेगा।' इस प्रकार जब देवकी के बालक होता, तभी सुलसा के भी होता और देव सुलसा का मरा हुआ बालक देवकी के यहाँ रख कर देवकी का जीवित बालक सुलसा के पास पहुँचा देता था। इस तरह देवकी के छः बालक सुलसा के यहाँ पहुँच गये। सुलसा के जो मरे हुए बालक आते थे, वे कंस के सामने ले जाये जाते थे। कंस उन्हें

मरा हुआ देख कर और यह सोच कर कि यह मेरे डर के मारे मर गये हैं, अभिमान से फूल उठता था। फिर भी उसे संतोष न होता और वह उन मरे बालकों को ही पछाड़ डालता था।

सातवीं बार वह महापुरुष आया जिसका आज जन्म-दिन है। ऐसा बालक देवकी के गर्भ में आने के कारण उसे शुभ-सूचक स्वप्न आये। देवकी का शरीर इस प्रकार चमकने लगा जैसे काच की हंडी में दीपक रखने से वह चमकने लगती है। देवकी और वसुदेव चकित थे। उन्हें लक्षणों से यह मालूम हो गया था कि कोई महापुरुष गर्भ में आया है। देवकी को इस प्रकार तेजपूर्ण देखकर कंस भी समझ गया कि अब मेरा काल बताया जाने वाला बालक गर्भ में आया है। कई ग्रंथकारों ने लिखा है कि कंस ने देवकी और वसुदेव को बेड़ी और हथकड़ी से जकड़ दिया था और कारागृह में डाल दिया था। दोनों पर सख्त पहरे का प्रबंध किया गया था। उस मुसीबत में पड़े हुए वसुदेव, देवकी से कहने लगे—यह सब मेरे वचन-बद्ध होने का परिणाम है। संसार में पतिव्रता महिलाएँ तो और भी होंगी, लेकिन देवकी, तुम जैसी पतिव्रता का होना दुर्लभ है। तुमने अपने पति के वचन की रक्षा के लिए अपने लाड़ले लाल भी मरने के लिए कंस के हाथ में सौंप दिये। तुमने अपना सर्वस्व निछावर कर मेरे धर्म की रक्षा की है। सचमुच तुम इस संसार की सारभूत विभूति हो। आर्य-ललनाएँ तुम्हारा अनुकरण कर संसार में पतिव्रत धर्म की रक्षा करेंगी।

देवकी ने नम्रतापूर्वक मधुर स्वर में कहा—नाथ, इसमें

मेरा क्या है ? यह शरीर भी आपका है। बालक तो जैसे आपके वैसे ही मेरे हैं। मैं बालकों को जितना प्यार करती हूँ, उतने ही आपको भी वे प्यारे हैं। बल्कि माता की अपेक्षा पिता को पुत्र से अधिक स्नेह होता है। दुर्योधन की माता गांधारी ने दुर्योधन का मोह त्याग दिया था, लेकिन धृतराष्ट्र पुत्र-मोह न छोड़ सके थे। इस प्रकार पिता को पुत्र से अधिक प्रेम होता है। जब अधिक प्रेम-परायण आपने ही उन बालकों को दे दिया, तब मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? इसके अतिरिक्त आपके कार्य में किसी प्रकार का विसंवाद खड़ा करना मेरे लिए उचित भी नहीं है।

जिस सत्य की रक्षा के लिए वसुदेव ने अपने सुकुमार और प्यारे बच्चे काल के हाथ में सौंप दिये, उस महान् सत्य को आप भी अपनाइए और 'तं सच्चं भगवओ' इस शास्त्र-वाक्य पर पूर्ण श्रद्धा रखिए। स्मरण रखिए, बुद्धि एक प्रकार की वंचना है। उसकी दौड़ बहुत थोड़ी है। सत्य इतना महान् और उच्च है कि वह बुद्धि की परिधि में नहीं समा सकता। पत्थर तोलने की तराजू पर कदाचित् सुई तुल सकती है, पर बुद्धि की तराजू पर सत्य नहीं तुल सकता। बुद्धि से तर्क-वितर्क उत्पन्न होता है और तर्क-वितर्क सत्य की परछाई भी नहीं पा सकता। प्रगाढ़ श्रद्धा के कंटकाकीर्ण पथ पर चलते चलने से सत्य के सन्निकट पहुँचना पड़ता है। अतएव श्रद्धा को बुद्धि के वस्त्र न पहनाओ। विचार करो—सत्य की आराधना के लिए वसुदेव और देवकी ने अपने प्यारे पुत्र भी अर्पण कर दिये, तो सत्य का अनुसरण करने के लिए हम क्या नहीं त्याग सकते ? अगर संसार में सर्वत्र सत्य

की प्रतिष्ठा हो जाय और प्रत्येक के प्रत्येक व्यवहार में सत्य भगवान् के दर्शन होने लगें, तो संसार का यह नारकीय रूप नष्ट हो सकता है। वकीलों को घर बैठ कर और-कोई उच्चतर आजीविका खोजनी पड़े और कचहरी कच-हरी (सिर के बाल तक हरने वाली) न रह जाय। वकीलों और अदालतों के आधिपत्य से संसार में शांति के बदले अशांति का ही प्रसार हुआ है। यह सब सत्य से विमुख होने का परिणाम है। जब हृदय-रूपी कुसुम में सत्य के सौरभ का संचार होगा, तभी हृदय में कृष्ण का जन्म हो सकेगा।

देवकी ने वसुदेव से कहा—पुत्र जैसे मेरे थे, वैसे ही आपके भी थे। जैसा दुःख मुझे हुआ है वैसा ही दुःख आपने भी अनुभव किया है। किन्तु आप पुरुष हैं, आप में सहन-शक्ति अधिक है। मैं स्त्री हूँ, मुझमें इतनी सहन-शीलता और कष्ट-सहिष्णुता नहीं है। मैंने अब तक छः बालकों का मरण-दुःख झेला है, पर अब कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे इस बार का बालक जीवित बचा रहे।

पुत्र के लिए दुःख होना स्वाभाविक है। मनुष्य की तो बात ही क्या, उन पक्षियों को भी संतान के वियोग की वेदना असह्य हो जाती है, जिनमें संतान का नाता अत्यन्त अल्पकालीन होता है। यहाँ एक मैना का बच्चा आया करता था। एक दिन वह उड़कर ऊपर बैठा। उसके माँ बाप भी वहाँ मौजूद थे। इतने में ही एक चील ने झपट्टा मारा और बच्चे को उड़ा ले गई। उस समय उस बच्चे के माता-पिता को इतना दुःख हुआ और वे ऐसे चिल्लाये कि कुछ कहा नहीं जा सकता।

देवकी के कथन के उत्तर में वसुदेव ने कहा—तुम्हारी बात है तो ठीक, पर अब क्या सत्य का परित्याग करना पड़ेगा ? जिस सत्य धर्म का पालन करने के लिए छह बालक त्याग दिये, अब क्या उसी सत्य को त्यागना उचित होगा ?

देवकी ने कहा—छह बालक हम लोगों ने सत्य भगवान् की सेवा में समर्पित किये हैं। तब सत्य से विमुख होने की प्रेरणा मैं नहीं करती। मैं ऐसा कोई यत्न करने के लिए कह रही हूँ जिससे धर्म की भी रक्षा हो और पुत्र की भी रक्षा हो। पुत्र की रक्षा की चिन्ता भी इसी कारण है कि वह महापुरुष होगा, और महापुरुष की रक्षा करना संसार की रक्षा करना है। पुत्र-प्रेम से प्रेरित होकर नहीं, वरन् संसार के कल्याण की कामना से हमें इस पुत्र की रक्षा करनी चाहिए। संसार में उत्सर्ग और अपवाद—यह दो विधियाँ हैं। ऐसा जान पड़ता है कि यह गर्भस्थ महापुरुष संसार के अपवाद सुनकर भी जगत् का कल्याण करेगा। इसलिए इसकी रक्षा करने के लिए हमें भी अपवाद-मार्ग का अवलंबन करना पड़े तो अनुचित नहीं है।

तुम्हारी बात मेरी समझ में आ रही है। पर यह अत्यन्त कठोर साधना है। महापुरुष की रक्षा करते समय अगर हमारे हृदय में लेशमात्र भी पुत्र-मोह उत्पन्न हो गया, तो हम अपनी साधना से भ्रष्ट हो जाएँगे। यह निष्काम कर्म कठिनतम व्यवहार है। बड़े-बड़े योगी भी इसमें अकृतकार्य हो जाते हैं। हमें अपना हृदय विश्व-हित की कामना से लबालब भर लेना होगा, जिससे व्यक्तिगत हित या सुख की अभिलाषा को उसमें तिल-

भर भी स्थान न मिल सके। हमें आत्मोत्सर्ग की पराकाष्ठा पर पहुँचना चाहिए। ऐसा किये बिना हम सत्य की सेवा से विमुख हो जाएँगे। पर यह तो समझ में नहीं आ रहा है कि क्या यत्न किया जाय ?

देवकी ने कहा—गर्भस्थ महापुरुष का महत्व मैंने मुनि महाराज से जान लिया है। यह महापुरुष जगत् में सुख एवं शान्ति की सृष्टि करेगा। इसकी रक्षा करने के उद्देश्य से मैंने गोकुल में रहने वाले राजा नन्द की रानी यशोदा को अपनी सखी बनाया है। वह मेरी ऐसी सखी है कि मेरी खातिर वह अपनी संतान का त्याग कर सकती है। वह पूर्ण विश्वास-पात्र है। साथ ही मुझे यह भी विश्वस्त-सूत्र से ज्ञात हो गया है कि जिस दिन मेरे गर्भ से बालक का जन्म होगा उसी दिन वह भी संतान प्रसव करेगी। अतएव इस महापुरुष को यशोदा के यहाँ ले जाना चाहिए और यशोदा की संतान यहाँ ले आना चाहिए।

वसुदेव ने कहा—उपाय तो अच्छा है, पर देखना तो यह है कि हम इस समय किस हालत में हैं ! हथकड़ी-बेड़ी पड़ी हुई है। द्वार जड़ा है। पहरा लग रहा है। ऐसी दशा में कैसे बाहर निकलना होगा ?

देवकी—यह सब तो आँखों दिखाई दे रहा है। इतना होते हुए भी अगर हमारी भावना में सत्य है और इस महापुरुष की रक्षा होती है, तो यह सब कठिनाइयाँ दूर हो जाएँगी। आप बाहर निकल भी सकेंगे और मार्ग भी मिल जायगा। बस, आप तो तैयार हो जाइए।

कई लोग प्रश्न करते हैं कि पुरुषार्थ बड़ा है या दैव बड़ा है? इस प्रश्न का उत्तर कृष्ण के चरित्र से यह फलित होता है कि दोनों ही समान हैं और सिद्धि-लाभ के लिए दोनों की समान आवश्यकता है। जैसे दोनों चक्रों से रथ चलता है उसी प्रकार दोनों के सद्भाव से कार्य सिद्ध होता है। किन्तु इन दोनों में से उद्योग करना मनुष्य के हाथ में है। अतएव मनुष्य को सतत उद्योगशील रहना चाहिए। भाग्य अनुकूल होगा तो सफलता अवश्य मिलेगी। हाँ, भाग्य की अनुकूलता की प्रतीक्षा करते हुए निठल्ले बैठ रहना उचित नहीं है। कौन कह सकता है कि किसका भाग्य किस समय अनुकूल होगा ? आज के लोग अपने काम के लिए तो भाग्य के भरोसे नहीं बैठे रहते—उद्योगशील रहते हैं, लेकिन धर्म के काम में भाग्य का भरोसा ताकने लगते हैं। इसी कारण हानि उठानी पड़ती है।

वसुदेव ने देवकी का कथन स्वीकार किया। जैसे पूर्व दिशा सूर्य को जन्म देती है, उसी प्रकार भाद्रपद कृष्णा अष्टमी की रात को, अर्द्ध-रात्रि के समय, देवकी ने सुंदर, स्वस्थ और सर्वांग-सम्पन्न बालक को जन्म दिया। बालक का जन्म होते ही देवकी और वसुदेव की हथकड़ियाँ और वेड़ियाँ तड़ाक से टूट कर गिर पड़ीं। देवकी ने वसुदेव से कहा—नाथ, आइए। अब यह महा-पुरुष आपके उद्योग की परीक्षा करता है।

वसुदेव सोचने लगे—महापुरुष के प्रताप से हथकड़ी-बेड़ी टूट गई हैं, मगर द्वार पर अब भी पहरा मौजूद है। पहरेदारों के सामने वाहर कैसे निकल सकेंगे ?

वसुदेव सत्य के लिए इस प्रकार के कष्ट उठा रहे थे, लेकिन आज के लोगों को सत्य बोलने या सत्य पालने में किस प्रकार की रुकावट है ? फिर क्यों नहीं उनके जीवन में सत्य की आभा चमकती ? सत्य की आराधना करने के कारण अगर आपके पैरों में बेड़ी भी पड़ जायगी, तो वह उसी प्रकार टूट जायगी जैसे वसुदेव की टूट गई थी। कहावत है—मुर्दे के साथ श्मशान तक जाया जाता है, उसके साथ जला नहीं जाता। इसी प्रकार हम लोग भी उपदेश दे सकते हैं, इससे अधिक क्या कर सकते हैं ? आपके साथ-साथ घूमने से रहे !

वसुदेव देवकी से कहने लगे—'द्वार पर पहरा लग रहा है। निकलने का क्या उपाय है ?' देवकी ने कहा—'उद्योग करना आपका काम है, फिर सफलता मिले या न मिले। प्रयत्न कर देखिये।'

वसुदेव जाने को तैयार हुए। वे ग्रंथानुसार सूप में और जैन-कथा के अनुसार अपने हाथ में बालक कृष्ण को लेकर रवाना हुए। द्वार पर पहुँचे तो देखते क्या हैं कि द्वार खुला पड़ा है, और पहरेदार पड़े-पड़े खुर्राटे ले रहे हैं। वसुदेव ने यह भी महापुरुष का प्रताप समझा। दरवाजे से बाहर निकल कर आगे बढ़े। उस समय मूसलाधार पानी बरस रहा था। बादल गड़गड़ा रहे थे, मानों कृष्ण-जन्म के उपलक्ष्य में इन्द्र का नगाड़ा बज रहा था। बिजली चमक रही थी, मानों महापुरुष का जन्मोत्सव मनाने के लिए प्रकृति चपलतापूर्वक नृत्य कर रही थी। झींगुर और मेंढक खुशी-खुशी बोल रहे थे, जैसे कृष्ण-जन्म की खुशी

में संगीत गा रहे हों। ग्रंथों में लिखा है—उस समय शेषनाग ने कृष्ण पर छाया की थी और एक देव, वसुदेव के आगे-आगे प्रकाश करता जाता था।

वसुदेव चलते-चलते नगर के द्वार पर आये। देवकी के पुत्र-प्रसव का समय सन्निकट आया जानकर कंस ने नगर-द्वारों पर भारी-भारी ताले डलवा दिये थे। वसुदेव ने नगर के बंद द्वार देखे, पर वे एक क्षण भर के लिये भी रुके नहीं। उन्होंने सोचा—जहाँ तक जाना संभव है, वहाँ तक तो मुझे जाना ही चाहिए।

दीधा छे दरवाजा, ये आरत मोटी राजा।
हरि अँगूठो अड़िया, ताला तो सब झड़िया॥

वसुदेव जाकर नगर के द्वार से टकराये। जैसे वे द्वार से टकराये और कृष्ण का अँगूठा अड़ा, वैसे ही ताले राख के ढेर की तरह नीचे गिर पड़े। फाटक खुल गये। उस समय और तो सब लोग सो रहे थे, द्वार के ऊपर बने हुए पींजरे में केवल उग्रसेन जाग रहे थे। ऐसे समय पर शत्रु को नींद आना और मित्रों का जागना स्वाभाविक है। उग्रसेन ने फाटक खुलने की आवाज सुनी।

उग्रसेन कहे कोई, तुम बंधन काटे सोई।
ये वचन सुने सुखदायी, कहे वेग सिधावो भाई॥

उस समय उग्रसेन ने पूछा—कौन ? वसुदेव ने कहा—वही जो

तुम्हें बंधन से छुड़ावेगा। यह उत्तर सुनकर उग्रसेन अतीव प्रसन्न हुए और कहा—अच्छा भाई, जल्दी पधारो।

वसुदेव आगे चले। उस घोर अंधकारमयी काली निशा में, आधी रात्रि के समय, वर्षा और बिजली की विपदा के होते हुए, कौन घर से निकल सकता था? लेकिन वसुदेव कृष्ण को लिये हुए जा रहे थे। जब और आगे बढ़े, तो यमुना सामने आई। वर्षा के कारण उसमें पूर आ रहा था। वसुदेव ने निश्चय किया—भले ही आज मुझे यमुना में बह जाना पड़े, परन्तु जहाँ तक संभव है मैं अवश्य जाऊँगा। इस प्रकार दृढ़ संकल्प करके वे यमुना में उतर पड़े। ग्रंथों में लिखा है कि यमुना पहले तो पूर थी, पर कृष्ण के पैर का अँगूठा लगते ही यमुना ने मार्ग कर दिया, अर्थात् वह छिछली हो गई।

इतनी सब विघ्न-बाधाओं को पार कर वसुदेव नन्द के घर पहुँचे। उसी समय यशोदा के गर्भ से पुत्री उत्पन्न हुई थी। वसुदेव ने पुत्री की जगह कृष्ण को रख दिया और पुत्री को लेकर लौट पड़े। उनके लौट आने पर द्वार आदि फिर पहले की ही तरह बंद हो गये। उनके हाथ-पैरों में पूर्ववत् हथकड़ी-बेड़ी भी पड़ गई। यह कैसा दैविक चमत्कार था, सो कहा नहीं जा सकता।

उधर 'जय कन्हैयालाल की' होने लगी और इधर पहरेदार जागकर लड़की को लेकर कंस के पास गये। कंस लड़की जन्मी देख कहने लगा—'देखो, यह बाबा-जोगी और ज्योतिषी लोग कैसे

झूठे होते हैं। और तो और, नारद भी अब झूठ बोलने लगे हैं। लड़के के बदले यह लड़की उत्पन्न हुई है!' कंस जब अभिमान-भरी यह बातें कह रहा था, तभी वह सद्यःप्रसूता बालिका बोली—'मुझे लड़की कह कर तू क्षणिक सान्त्वना भले ही प्राप्त करले और ऋषियों-मुनियों को झूठा बता दे, पर तेरा संहार करने वाला अवतीर्ण हो ही चुका है।'

एक ओर वसुदेव ने उद्योग किया था और दूसरी ओर कंस ने। किन्तु वसुदेव का उद्योग प्रशस्त था, वह न्याय और धर्म की प्रतिष्ठा के लिए था, जबकि कंस नीति-धर्म का ध्वंस करने की चेष्टा कर रहा था। वसुदेव का हेतु शुभ था, अतएव उन्हें देवों की सहायता प्राप्त हो सकी थी। अगर आप भी इसी प्रकार शुभ हेतु से प्रशस्त प्रयास करेंगे तो आपको ज्ञात हो जायगा कि दैविक सहायता कहाँ से और कैसे मिलती है! कदाचित् कोई कह सकता है कि परमार्थ के लिए हमने अमुक उद्योग किया था, पर वह असफल रहा। उन्हें अपने हृदय की बारीकी से परीक्षा करनी चाहिए। उन्हें मालूम करना चाहिए कि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों एक रूप थे, या बाहर परमार्थ था और भीतर स्वार्थ था? स्वार्थ से मलीन हृदय लेकर दिव्य सहायता की कामना करना ऐसी ही बात है, जैसा कि कहा है—

चाहत मुनि मन अगम सुकृत फल मनसा अघ न अघाती

इसके अनुसार बुरी भावना रख कर भी अच्छे फल की आशा रखना दुराशा मात्र है।

कृष्ण धीरे-धीरे नन्द के घर बड़े होने लगे। पालने में पौढ़े

हुए भी उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण और असाधारण काम किये। नन्द के यहाँ रहते हुए उन्होंने जो कुछ किया उसमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी थी कि कुछ बड़े होते ही वे कम्बल और लकड़ी लेकर गायें चराने के लिए जाया करते थे। जन्माष्टमी मनाने के लिए आज आप बढ़िया-बढ़िया वस्त्र पहनते हैं, पर जिसकी जन्माष्टमी मनाते हैं वह कैसा सादा था, यह भूल कर भी नहीं सोचते। भक्त उसके उसी रूप पर मुग्ध हैं और कहते हैं—

मोर मुकुट कटि काछनी, उर गुंजन की माल।
सो वानक मम उर बसो, सदा विहारीलाल॥

इससे स्पष्ट है कि कृष्ण ने मोर पंखों का मुकुट पहना था, चिरमी (घुंगची) की माला पहनी थी और कमर में लंगोटी लगा रक्खी थी। कृष्ण इस सीधे-सादे भेष में रहते थे। कवि कृष्ण के इसी भेष को अपने हृदय में बसने की भावना व्यक्त करता है।

कृष्ण में इस तरह की सादगी थी, परन्तु आजकल तो सादगी घृणा की वस्तु बन गई है। जिनका उत्पन्न किया हुआ अन्न खाकर लोग जीवन-निर्वाह करते हैं, उन किसानों को इस सादगी के कारण भोजन में पास तक नहीं बैठने दिया जाता। गाय को मुसीबत माना जा रहा है। मोटरें रखने का स्थान है, पर गाय बाँधने को स्थान नहीं मिलता! तब पीने के समय क्या पीते हो? गाय का दूध या मोटर का धुंआ? प्राचीन ग्रंथों में गाय की महत्ता का खूब बखान किया गया है। गाय "गो" कहलाती है। "गो" पृथ्वी का भी नाम है और

गाय का भी नाम है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे पृथ्वी हमारा आधार है, उसी प्रकार गाय भी हमारे जीवन का आधार है। इसीलिये कृष्ण ने गो-रक्षा की थी। कृष्ण ने अपने व्यवहार के द्वारा गाय का जैसा महत्त्व प्रदर्शित किया है, वैसा विश्व के इतिहास में किसी ने प्रदर्शित नहीं किया। आज गाय का आदर नहीं हो रहा है पर प्राचीन काल के राजा और सेठ अपने-अपने घर में गायों के झुंड के झुंड रखते थे। उस समय शायद ही कोई ऐसा घर रहा होगा जहाँ गाय न पाली जाती हो। उसी युग में गया 'गो माता' कहलाती थी और 'जय गोपाल' की ध्वनि सर्वत्र सुनाई देती थी–अर्थात् गाय पालने वाले की जय बोली जाती थी। मगर आज परम्परा का पालन करने के लिए गाय को कोई माता भले ही कह दे, पर उसका पालना विपत्ति से कम नहीं समझा जाता। लोग गोवंश के ह्रास का कलंक मुसलमानों के मत्थे मँढ़ते हैं पर मेरी समझ में हिन्दू लोग अगर गाय को माँ समझ कर घर में आदर के साथ स्थान देते तो गोवंश का ह्रास न होता और न कोई उसे मार ही सकता। हिन्दुओं ने गाय की रक्षा नहीं की, इसी से गोवंश नष्ट होता जाता है। यही नहीं, मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि हिन्दू लोग भी किसी न किसी रूप में गोवंश के विनाश में सहायक हो रहे हैं। उदाहरण के लिये वस्त्रों को लीजिए। गाय की चर्बी वाले वस्त्र बड़े शौक से पहने जाते हैं। क्या गायों की हत्या किये बिना चर्बी निकाली जाती है ? चर्बी के लिये बड़ी क्रूरता से गायों को क़त्ल किया जाता है और उस चर्बी वाले वस्त्रों को पहन कर लोग कहते हैं—हम गो-भक्त हैं—गाय हमारी माता है ! धन्य है ऐसे मातृ-भक्त सपूतों को !

पर यह न समझ बैठना कि इससे गायों की ही हानि हुई है। उस पद्धति से जहाँ गोवंश को हानि पहुँची है वहाँ मानव-वंश को भी काफ़ी हानि उठानी पड़ी है, और पड़ रही है। दूध मर्त्य-लोक का अमृत कहलाता है। उसकी आजकल बेहद कमी हो गई है। परिणाम यह है कि लोगों में निर्बलता और निर्बलता जन्य हज़ारों रोग आ घुसे हैं। इसके अतिरिक्त तामसिक भोजन पेट में जाता है, जिससे सतोगुण का नाश होता जा रहा है।

सुना है यहाँ—जामनगर में—शराब की ज्यादा खपत है। प्रजा किस प्रकार की बन रही है, इस बात का विचार तो राज्य के अधिपति और अधिकारियों को करना चाहिए। उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए और ऐसा प्रयत्न करना चहिए कि उनकी प्रजा सतोगुणी बने। इसके लिए शराब जैसी भ्रष्ट वस्तुओं के स्थान पर सात्विक पदार्थों की सुविधा करनी चाहिए। सुना है, अमेरिका में प्रजा की वृद्धि के साथ गायों की भी वृद्धि हो रही है। वहाँ के लोग यह समझते हैं कि तामसिक प्रकृति की प्रजा ही उपद्रव करती है और उस उपद्रव को दबाने के लिए बहुमूल्य शक्तियाँ व्यय करनी पड़ती हैं।

कृष्ण के चरित्र से गोरक्षा-विषयक बहुमूल्य और उपयोगी शिक्षाएँ मिलती हैं। गायें चराने के बहाने जंगल में रहने से वहाँ जो शिक्षा प्रकृति से मिलती है, वह आजकल के बड़े-बड़े कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में भी नहीं मिलती।

कृष्ण अपनी मुरली की ध्वनि द्वारा जगत् में नवीन स्फूर्ति,

नवीन चेतना फूँकते रहते थे। उनकी मुरली की ध्वनि अलौकिक संगीत की सृष्टि करती थी। वह ध्वनि कानों को अमृत-सी मधुर लगती थी और उसे सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे।

कई लोग कृष्ण के चरित्र पर यह अपवाद लगाते हैं कि उन्होंने गोपियों के साथ मर्यादा-विरुद्ध दुराचार किया था। वास्तव में यदि कृष्ण ने ऐसा किया हो, तो उनका जीवन पतित हो जाता है, उसमें पवित्रता नहीं रह जाती। साथ ही ऐसे व्यक्ति का स्मरण करना भी त्याज्य हो जाता है। इस अवस्था में वह महापुरुष नहीं रह जाते। भक्तिसूत्र में लिखा है—

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्, निरोधस्तु लोक वेद-व्यापारन्यासः।

इसका मतलब यह है कि विषय-वासना होने पर भक्ति नहीं रह सकती। परमात्मा की भक्ति और विषय-वासना एक साथ कैसे निभ सकती है? ऐसी अवस्था में कृष्ण के संबंध में यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि उन्होंने गोपियों के साथ कोई नीच कृत्य किया था? जिन लोगों के मस्तिष्क में मलीन भावना भरी हुई है, वे सर्वत्र ही मलीनता की कल्पना कर डालते हैं। उन्हें पवित्र भावना से किये जाने वाले कार्य में भी अपवित्रता की गंध आती है। कृष्ण मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। किन्तु विषय-वासना से विदूषित व्यक्तियों ने अपनी अपावन भावना के अनुसार कृष्ण की कल्पना कर डाली है। इस कल्पना में अपना मार्ग प्रशस्त बना लेने की भावना भरी हुई है। इधर कुछ श्रृंगार-रस

के प्रेमी कवियों ने भी काव्य की मर्यादा का उल्लंघन करके कृष्ण का चित्रण किया है और इससे कृष्ण के चरित पर आक्षेप करने का अवसर मिल गया है।

परमात्मा का सच्चा भक्त वही है जिसने विषय-वासना का निरोध कर दिया है। परमात्मा की भक्ति की अभिलाषा रखने वाले के लिए ऐसे व्यक्ति का संसर्ग भी त्याज्य है, जो विषय-वासना को प्रधानता देता हो। भक्तिसूत्र में कहा है—

दुःसंग सर्वथा त्याज्यः।

अर्थात् कुसंगति से सदा बचना चाहिए। यदि कृष्ण दुराचारी रहे हों तो उनका नाम भी न लेना चाहिए। क्योंकि—

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंश बुद्धिनाशकारणत्वात् तरंगा इता अपि इमे संगात् समुद्रायन्ति।

तात्पर्य यह है कि दुःसंग से सर्वनाश तक हो जाता है। ऐसी स्थिति में कृष्ण स्मरणीय कैसे ठहरते हैं? पर वास्तव में कृष्ण ऐसे नहीं थे। उनके विषय में ऐसी कुत्सित कल्पनाओं को हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए। यदि आप कृष्ण के बहाने भी काम-वासनाओं को हृदय में स्थान देंगे, तो तरंग जितनी वासना भी समुद्र जैसी विशाल बन जायगी। अतएव मन में से पाप निकाल दो और कृष्ण पर अपनी अभव्य भावना का रंग न चढ़ाओ।

नन्द के घर पलते हुए कृष्ण तरुणावस्था में प्रविष्ट हुए। अब उन्होंने सोचा-सादगी और गो-पालन का आदर्श मैंने मानव-

समाज के सामने उपस्थित कर दिया है। अब संसार में बढ़े हुए पाप का विनाश करना चाहिए। ऐसा सोचकर, कंस का आमंत्रण पाकर या कोई अवसर हाथ लगने पर वे कंस के यहाँ गये। कंस के पास जाने के लिए लोगों ने उन्हें हटका और कंस द्वारा मारे जाने का भय बताया, पर कृष्ण असाधारण सत्वशाली पुरुष थे। वे कब भय खाने वाले थे! वे निडर होकर कंस के यहाँ गये। कंस ने उन्हें मार डालने के अनेक प्रयत्न किये, पर उसके सब प्रयत्न निष्फल हुए। हाथी और मल्ल आदि को मार कर कृष्ण, कंस के पास पहुँचे। कृष्ण को सामने देख कंस प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—मेरा शत्रु सामने आ पहुँचा है, अतएव इसे अभी-अभी समाप्त कर देता हूँ। वह तलवार हाथ में लेकर कृष्ण को मारने दौड़ा। पर कृष्ण ने कंस की चोटी पकड़ी और उसे घुमा दिया। सिर पर वंशी का प्रहार कर उसकी जीवन-लीला का अन्त कर दिया।

उस समय कृष्ण भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई दिये। कृष्ण ने कंस को मार डालने के पश्चात् वसुदेव और उग्रसेन आदि को कारागार से मुक्त किया। भला राजमुकुट किसे अप्रिय लगता है? सभी राजमुकुट से अपने सिर की शोभा बढ़ाना चाहते हैं। मगर कृष्ण ने सोचा—'मेरा विरोध किसी व्यक्ति से नहीं है—पाप से है। अगर कोई पापी पुरुष अपने पुराने पापों के लिए पश्चात्ताप करता है और भविष्य में पापाचरण न करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होता है तो उसे मैं क्षमा कर सकता हूँ। कंस ने ऐसा नहीं किया, अतएव उसका प्राणान्त करना पड़ा। इसके प्राणान्त से राजसिंहासन सूना हो गया है। न्याय के

अनुसार राज्य उग्रसेन का है और उन्हीं को यह मिलना चाहिए।' ऐसा विचार कर कृष्ण ने राज्य पर स्वयं अधिकार न करके उग्रसेन के सिर पर राजमुकुट स्थापित कर दिया। यह है कृष्ण की महानुभावता !

कंस की रानी जीवयशा रोती-पीटती अपने बाप जरासंध के पास गई। जरासंध में यदि विवेक की तनिक भी मात्रा होती, तो वह कंस के सहज ही मारे जाने से समझ लेता कि कृष्ण से लड़ाई मोल लेना हँसी-ठट्ठा नहीं है। मगर उसे ऐसे सलाहकार मिले कि उन्होंने उसे शान्त करने के बदले और अधिक भड़काया। उसका जो परिणाम हो सकता था, वही हुआ—जरासंध भी मारा गया। कृष्ण के आगे कालिय नाग भी नम्र हो गया। दुर्योधन भी मारा गया। इस प्रकार तत्कालीन सब बड़े-बड़े अपराधी—जिन्होंने अपना अपराध नहीं त्यागा था—नष्ट हो गए।

इस सम्बन्ध में हमें एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी चाहिए। कृष्ण कहते हैं कि न किसी से मैं वैर रखता हूँ और न किसी को अपना शत्रु समझता हूँ। कृष्ण के चरित्र पर अर्जुन के सारथी बनने के कारण अनेक अपराध लगाये जाते हैं। परन्तु महाभारत के अनुसार अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जब उत्तरा के गर्भ का घात हो गया, तब कृष्ण ने कहा था—मृत्यु असत्य पर आती है। सत्य के सामने मृत्यु थर्राती है। अतएव किसी सत्य-परायण सत्पुरुष के कहने से यह गर्भ जीवित हो सकता है। लोग कहने लगे—कौन है ऐसा सत्पुरुष ? किसके द्वारा मृतक गर्भ पुनर्जीवित हो सकता है ? कृष्ण ने कहा—'आप सब

सज्जन अपना-अपना सत्य आजमाइए और उसकी शक्ति प्रदर्शित कीजिए। अगर आप सफल न हो सकेंगे, तो अन्त में मैं अपनी सत्य-शक्ति उपस्थित करूँगा।' कृष्ण की इस बात से लोग मन ही मन मुस्कराने लगे—कृष्ण और सत्य-परायण! कृष्ण ने समझ लिया कि यह लोग मुझ पर अविश्वास कर रहे हैं। उन्होंने कहा—मैंने अपनी जिंदगी में सत्य की आराधना की है। मेरे सभी कार्य सत्य के लिए हैं। अगर आप मुझे सत्य-निष्ठ न मानते हुए अपने को ही सत्याचारी समझते हैं, तो आप कहिए—'अगर मुझ में सत्य है, तो यह बालक जीवित हो जावे।'

कृष्ण की यह चुनौती सुन कर सब लोग कुंठित हो गये। कौन ऐसा था जो अपने को सत्यवादी समझता था और अपने भीतर इस प्रकार की दिव्य-शक्ति के अस्तित्व पर भरोसा करता था? सब को चुप्पी साधे देख कृष्ण ने कहा—अच्छा, आप इस बालक को जीवित नहीं कर सकते तो मैं जीवित करता हूँ। यह कह कर वे तैयार हो गये। भक्त लोग तो कृष्ण का यह कथन सुन कर प्रसन्न हुए, लेकिन विरोधियों ने कहा—अच्छा, देखें आप इस अभिमन्यु के बालक को कैसे जीवित कर सकते हैं। कृष्ण ने कहा—

अब्रवीच्च विशुद्धात्मा सर्वं विश्रावयन् जगत्।
नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन॥

कृष्ण कहने लगे—'अगर हँसी-मजाक में भी मैंने कभी असत्य का प्रयोग न किया हो, अगर मैं सदा सत्य में निष्ठ रहा

होऊँ, मैंने क्षात्रधर्म का पालन किया हो, पराजित के प्रति किसी प्रकार का द्वेष न रक्खा हो, अपना जीवन धर्म के लिए उत्सर्ग कर दिया हो, सदा धर्म का ही आचरण किया हो, किसी भी समय क्षण भर के लिए भी धर्म न त्यागा हो और धर्मोपासकों पर मेरी निश्चल निष्ठा रही हो, तो उत्तरा का यह मृत बालक पुनर्जीवित हो जाय।'

कृष्ण के मुख से इन शब्दों के निकलते ही बालक जीवित हो गया। यह कौतुक देखते ही सज्जन जयजयकार करने लगे और दुर्जनों के चेहरे मुरझा गये।

कृष्ण के जीवन में अगर असत्य और अधर्म को प्रश्रय मिला होता, तो उनकी वाणी में यह लोकोत्तर सामर्थ्य कहाँ से आता? कोई पापी किसी मृतक बालक को जीवित नहीं कर सकता। अतएव कृष्ण के उज्ज्वल चरित्र में कलंक की कालिमा देखने वाले लोगों को अपनी दृष्टि निर्मल बनानी चाहिए। उन्हें अपने हृदय की मलीनता की परछाई कृष्ण जैसे महापुरुष के जीवन में नहीं देखनी चाहिए। संतों का समागम करके कृष्ण-जीवन का मर्म समझना चाहिए। किसी पुराण में तो यहाँ तक लिखा है कि एक बार रास-क्रीड़ा करते समय गोपियों के मन में दुर्भावना उत्पन्न हुई। कृष्ण को जैसे ही यह मालूम हुआ, वे अन्तर्धान हो गये। क्या यह किसी दुराचारी का काम हो सकता है?

द्वारिका में प्रजा की सुख-सुविधा और शान्ति के लिए मदिरापान न करने, द्यूत न रमने और व्यभिचार न करने के लिए खास तौर पर व्यवस्था की गई थी। यद्यपि इन तीन बातों

पर पूरा लक्ष्य दिया जाता था, पर स्वयं यादव लोग ही इनका आचरण करने लगे। तब कृष्ण ने वसुदेव से कहा—अब अपने घर के सर्वनाश का समय आगया है। अब घर में ही फूट पड़ गई है और यादव तीनों निषिद्ध वस्तुओं का सेवन करने लगे हैं। जैन-शास्त्र कहते हैं कि इन तीन बातों के कारण द्वारिका नगरी भस्म होगई। लेकिन ग्रंथ कहते हैं कि सब यादव-कुमार प्रभास-पाटन गये थे। वहाँ उन्होंने मदिरा-पान किया। मदिरा के मद में मत्त होकर दो कुमार आपस में लड़ने लगे। शेष कुमार भी दोनों में शामिल हो गये और इस प्रकार उनके दो दल बन गये। आपस में लड़ाई छिड़ी। जो जिसके हाथ आया, उसीसे वह लड़ने लगा। यह लड़ाई देखकर कृष्ण हँसने लगे। अपने परिवार को आपस में लड़कर नष्ट होते देख, कृष्ण की हँसी का आशय न समझ कर किसी ने उनसे कारण पूछा। कृष्ण ने कहा—अब इन्हें पृथ्वी पर रहने का अधिकार नहीं है। इन्हें नष्ट होना ही चाहिए।

कृष्ण का यह व्यवहार स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है कि न उन्हें पाण्डवों से प्रेम था, न कौरवों से द्वेष था। उन्हें एक मात्र सत्य से प्रेम था, न्याय से अनुराग था और धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा थी। पापों को समूल निर्मूल करना उनके जीवन का ध्रुव ध्येय था।

यादव आपस में लड़ मरे! महाभारत के अनुसार वे मूसल से लड़े थे, जिससे मूसल-पर्व का निर्माण हुआ। कृष्ण घर लौटे। यादव कुमारों का अन्त जानकर वसुदेव और देवकी ने

खूब विलाप किया। लेकिन कृष्ण घर पर नहीं रुके। वे घर से चल दिये। अन्त में कौशम्बी-वन में जराकुमार के बाण से उनकी मृत्यु हुई। जैसे बाजीगर अपनी बाजी समेटता है, उसी प्रकार कृष्ण ने अपनी लीला समेट ली।

कृष्ण की जयन्ती मनाते समय आप देखें कि जैसे कृष्ण-जन्म से पहले जगत् में पाप फैला हुआ था, उसी प्रकार आपके हृदय में तो पाप नहीं छा रहा है ? अगर आप हृदय में पाप का अनुभव करते हैं तो अपने हृदय में कृष्ण को जन्म दीजिए। वास्तव में कंस या शिशुपाल बुरे नहीं थे, काम क्रोध आदि बुरे हैं। अगर अपने अन्तःकरण में आप इन्हें स्थान देंगे, तो आप कृष्ण के विरोधी बन जाएँगे। कृष्ण की भक्ति का सर्वश्रेष्ठ प्रकार अपने हृदय की दुर्भावनाओं पर विजय प्राप्त करना ही है। यही विजय कल्याणकारी है।

सहायदाताओं की नामावली

---

५१) श्रीमान् शोभागमलजी सा० लोढ़ा, बगड़ी-सज्जनपुर
ो ओर से, उनकी स्व० पत्नी केशर बाई की पुण्य स्मृति में।

५१) श्रीमान् धीरजमलजी रेखचन्दजी सा० रांका की ओर
, उनके स्व० पिता श्री छगनमलजी सा० की पुण्य स्मृति में।

५१) श्रीमान् सुखराजजी पारसमलजी सा० दूगड़ की
ोर से, श्री सुखराजजी की मातेश्वरी श्री चान्दा बाई की पुण्य
ृति में ।

५१) श्रीमान् कुन्दनमलजी सा० बोरीदासजी मिश्रीलालजी
ा० कात्रेला की ओर से, श्रीकुन्दनमलजी सा० की धर्मपत्नी
ी पुण्य स्मृति में।

५१) श्रीमान् केशरीमलजी सा० मरलेचा की ओर से,
नके स्व० पिता श्री हंसराजजी सा० की पुण्य स्मृति में,

मिलने का पता:—
हैडमास्टर महावीर जैन मिडिल स्कूल
बगड़ी सज्जनपुर (मारवाड़)

स्वागत-गीत

(चातुर्मास के उपलक्ष्य में)

स्वागत श्री पूज्य जवाहिर का युग कर जोड़े हम करते हैं ।
स्वागत इन धर्मधुरंधर का नत-मस्तक हो सब करते हैं ॥
है हुई प्रकाशित यह नगरी श्री पूज्य वीर के आने से ।
जैसे नभ आलोकित होता प्राची में रवि के आने से ॥
जो दया-दृष्टि यह गुरु ने की उसको न कभी हम भूलेंगे ।
सेवा में रह कर ज्ञान-ध्यान पावन झूले में झूलेंगे ॥
तुम पर-उपकारी दयावान और जग-पतितों के तारक हो ।
तुम सत्य अहिंसा दया धर्म और क्षमा शील के धारक हो ॥
हम सब जन मिल हरषाते हैं इस चतुर्मास को लख करके ।
जब ज्ञान-क्षुधा मिट जावेगी उपदेशामृत को चख करके ॥

—श्री श्वे० सा० जैनश्रीसंघ

बगड़ी (मारवाड़)

मु. पन्नालाल गुप्त 'अनन्त' द्वारा आदर्श प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर में मुद्रित